मध्यकालीन भारतीय संस्कृति

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति

[६०० ई०—१२०० ई०]

रायबहादुर महामहोपाध्याय

गौरीशंकर हीराचंद ओझा

१९५१

हिंदुस्तानी एकेडेमी

उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद

तीसरा संस्करण : १९५१

मूल्य ६)

मुद्रक—रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

हिंदुस्तानी एकेडेमी की अवधानता में, १३, १४ सितंबर १९२८ को, स्वर्गीय रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' विषय पर तीन व्याख्यान दिए थे। यह व्याख्यान लिखित थे, और उसी वर्ष एकेडेमी से पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुए थे। बाद में, १९४५ में, इस पुस्तक का पुनर्मुद्रण हुआ और अब इसका तीसरा मुद्रण पाठकों के सामने है।

हमें इस बात का हर्ष है कि हिंदी भाषियों ने स्वर्गीय ओझा जी की इस कृति का समुचित आदर किया। पुस्तक कई परीक्षाओं के पाठ्य-क्रम में भी अब सम्मिलित है। अपने विषय की यह अत्यंत प्रामाणिक पुस्तक है। स्वर्गीय ओझा जी के अगाध पांडित्य और उनकी सुबोध परंतु गंभीर शैली की प्रशंसा में कुछ लिखना अनावश्यक है।

हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद
नवंबर १९५१

धीरेंद्र वर्मा
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

प्राक्कथन

संयुक्त प्रांत की सरकार ने हिंदी और उर्दू भाषाओं की उन्नति के लिए 'हिंदुस्तानी एकेडमी' की स्थापना कर प्रशंसनीय कार्य किया है। उक्त एकेडमी ने मुझे ६०० ई० से १२०० ई० तक अर्थात् राजपूत-काल की भारतीय संस्कृति पर तीन व्याख्यान देने की आज्ञा देकर सम्मानित किया है, इसके लिए मैं समिति का अनुगृहीत हूँ। यह ६०० साल का काल भारतीय इतिहास में बहुत अधिक महत्व का है।

इस काल की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक अवस्था बहुत उन्नत थी। धार्मिक दृष्टि से तत्कालीन भारतवर्ष की दशा आश्चर्यकारक थी। बौद्ध, जैन और हिंदू धर्म तथा उनके अनेक धार्मिक संप्रदाय अपनी-अपनी उन्नति कर रहे थे। अनेक संप्रदाय अस्त हुए और अनेकों का प्रादुर्भाव तथा विकास हुआ। इसी तरह कई दार्शनिक संप्रदायों का भी आविर्भाव और विकास हुआ। भिन्न-भिन्न परस्पर-विरुद्ध मतों का विकास या ह्रास किस तरह हुआ यह ज्ञातव्य, रोचक तथा आश्चर्यकारक कथा है। इसी समय में प्रसिद्ध विद्वान् शंकराचार्य हुए, जिन्होंने दार्शनिक क्रांति कर दी। उनके अतिरिक्त रामानुज और मध्वाचार्य प्रभृति आचार्य भी हमारे समय में हुए।

ग्रीक, क्षत्रपों तथा कुशनों के राज्य समाप्त होने के बाद गुप्त वंश भी उन्नत होकर नाम शेष हो चुका था। भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न वंश अपना राज्य फैला रहे थे। दक्षिण में सोलंकी राजाओं का अधिक प्रभाव था। उत्तर में बैस (हर्ष), पाल, सेन आदि वंश भी उन्नति कर रहे थे। मुसलमान भी सिंध में आ चुके थे और ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में मुसलमानों का प्रवेश भारत में विशेष-रूप से हो चका था और कितने एक प्रांतों पर भी उनका अधिकार हो गया था। इस तरह भिन्न-भिन्न राजवंशों के विकास और ह्रास आदि अनेक राजनीतिक परिवर्तनों के कारण भी इस काल का महत्व बहुत बढ़ गया है।

इन महत्वपूर्ण राजनीतिक और धार्मिक परिवर्तनों के कारण तत्कालीन सामाजिक स्थिति में भी विशेष महत्व के परिवर्तन हुए। उस समय के विचार-प्रवाह, रीति-रिवाज आदि में कम महत्व के परिवर्तन नहीं हुए। समाज का संगठन भी पहले से बदल गया। केवल सामाजिक स्थिति ही नहीं, किंतु उस समय की राजनीति पर भी उसका कम प्रभाव नहीं पड़ा। तत्कालीन शासनपद्धति एवं राजकीय संस्थाओं में भी कुछ परिवर्तन हुआ।

कृषि, व्यापार और व्यवसाय---इन तीनों के उन्नत होने के कारण यह काल आर्थिक दृष्टि से भी विशेष महत्व का था। यूरोप और एशिया के देशों के साथ भारतीय व्यापार बहुत बढ़ा हुआ था। भारतवर्ष केवल कृषि-प्रधान देश ही नहीं बल्कि व्यवसाय-प्रधान देश भी था। वस्त्र-व्यवसाय के अतिरिक्त सोना, लोहा, काँच, हाथीदाँत इत्यादि के व्यवसाय भी बहुत उन्नत थे। भारतवर्ष अधिक संपन्न और ऐश्वर्यशाली था। भोजन और अन्य आवश्यक पदार्थ बहुत सस्ते थे जिससे किसी को भोजनादि की विशेष चिंता नहीं रहती थी।

उस समय का ज्ञानसंबंधी विकास भी कम नहीं था, जैसा कि आगे मालूम होगा। हमारे इस समय में काव्य, नाटक, कथाएँ आदि साहित्य-विषयक ग्रंथों के अतिरिक्त ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद तथा कलाकौशल में विशेष उन्नति हुई थी। इस तरह हम देखते हैं कि यह काल प्रायः सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। ऐसे घटनापर्ण और महत्वशाली विषय पर विस्तार से लिखने के लिए पर्याप्त समय, पर्याप्त अध्यवसाय और प्रचुर सामग्री की आवश्यकता है। परंतु इस गुरुतर कार्य को सुचारु रूप से संपादन करने की योग्यता मुझ में नहीं है। मैं चाहता था कि यह कार्य किसी योग्यतर विद्वान् को सौंपा जाता। मुझे खेद है कि मेरा स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण मैं इसमें यथेष्ट समय एवं सहयोग न दे सका।

इस विषय को मैंने तीन भागोंमें विभक्त किया है। पहले भाग या व्याख्यान में तत्कालीन धर्मों---बौद्ध, जैन तथा हिंदू---के भिन्न-भिन्न संप्रदायों के विकास और ह्रास तथा उस समय की सामाजिक स्थिति, वर्णाश्रम-व्यवस्था, दासप्रथा, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे

भाग में भारतीय साहित्य, अर्थात् कोष, व्याकरण, दर्शन, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, राजनीति, अर्थशास्त्र, शिल्प, संगीत, चित्रकला आदि विषयों की तत्कालीन स्थिति पर विचार किया गया है। तीसरे भाग में उस समय की शासन-पद्धति, ग्राम-पंचायतों का निर्माण और उनके अधिकार, सैनिक व्यवस्था तथा न्यायादि पर प्रकाश डालते हुए उस दीर्घ काल में होनेवाले परिवर्तनों का संक्षेप से उल्लेख कर उस समय की आर्थिक स्थिति---कृषि, व्यापार, व्यवसाय, व्यापार-मार्ग, आर्थिक, समृद्धि आदि—पर भी कुछ विचार किया गया है। ऊपर लिखे हुए विषयों में से प्रायः प्रत्येक विषय इतना गंभीर और विस्तृत है कि उन पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। केवल तीन व्याख्यानों में इन सब का समावेश संक्षिप्त रूप में ही हो सकता है।

इस समय की संस्कृति पर प्रकाश डालने के लिए जो सामग्री मिलती है, वह बहुत नहीं है। विशुद्ध इतिहास के ग्रंथ, जिनमें तत्कालीन संस्कृति का स्पष्ट उल्लेख हो, बहुत थोड़ी संख्या में मिलते हैं। नहीं कहा जा सकता कि कितने ऐसे ग्रंथ लिखे गए हों और वे काल-प्रवाह के चक्र में पड़कर नष्ट हो गए हों। फिर भी हमें इस समय पर विचार करने के लिए भिन्न-भिन्न ग्रंथों से सहायता मिल सकती है। इस सामग्री का संक्षेप से हम यहाँ निर्देश करते हैं।

सब से पूर्व चीनी यात्री हुएन्त्संग और इत्सिंग के यात्रा-वर्णनों से उस समय की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। चीनी यात्रियों के अतिरिक्त अल्मसूदी और अल्बेरूनी आदि अरब के भारत-विषयक ग्रंथ भी विशेष महत्व के हैं। उस समय संस्कृत, प्राकृत या द्रविड़ भाषाओं के काव्य, नाटक, कथाओं और पुराण आदि से भी तत्कालीन सामाजिक सभ्यता के संबंध में काफ़ी बातें मालूम होती हैं। प्राचीन शोध से उपलब्ध ताम्रपत्रों, शिलालेखों, सिक्कों और मुद्राओं से भी कम सहायता नहीं मिलती। याज्ञवल्क्य, हारीत, विष्णु प्रभृति स्मृतियों तथा विज्ञानेश्वर-कृत याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका मिताक्षरा से तत्कालीन सब प्रकार की स्थिति पर बहुत प्रकाश पड़ सकता है।

इस प्राचीन सामग्री के अतिरिक्त नवीन लेखकों की भी कई पुस्तकों से बहुत सहायता ली गई है। इनमें से रमेशचंद्र दत्त रचित 'ए हिस्ट्री आफ़

सिविलिज़ेशन इन एंश्यंट इंडिया', सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर-कृत 'वैष्णविज़्म शैविज़्म एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम', विनयकुमार सरकार-निर्मित 'दि पोलिटिकल इंस्टिट्यूशंस एंड थ्योरीज़ आफ़ दि हिंदूज़', राधाकुमुद मुकर्जी का 'हर्ष', के० एम० पनिक्कर का 'श्रीहर्ष आफ़ कन्नौज', चि० वि० वैद्य-कृत 'हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया', ए० मैक्डानल-कृत 'इंडियाज़ पास्ट', नरेंद्रनाथ ला-कृत 'स्टडीज़ इन इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर', हरविलास सारडा-रचित 'हिंदू सुपीरियोरिटी', जान ग्रिफिथ-रचित 'दी पेंटिंग्स आफ़ एजंटा', लेडी हैरिंगहम-कृत 'अजंटा फ़्रिस्कोज', एन० सी० मेहता की 'स्टडीज़ इन इंडियन पेंटिंग, 'इंपीरियल गेज़ेटियर आफ़ इंडिया', प्रो० मैकडानल और कीथ-कृत ''वैदिक इंडेक्स' और आफ़ेक्ट का 'कटेलागस् कैटेलागरम', इलियट की 'हिस्ट्री आफ़ इंडिया', मेरी बनाई हुई 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला', 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास', 'राजपूताने का इतिहास' तथा 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' और 'इंडियन एंटिक्वेरी', 'एपिग्राफ़िया इंडिका' आदि पत्रिकाएँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

हिंदुस्तानी एकेडेमी को एक बार फिर धन्यवाद देते हुए मैं अब प्रस्तुत विषय पर अपने विचार आरंभ करता हूँ।

विषय-सूची

चित्रों की सूची

प्रथम व्याख्यान

धर्म और समाज

बौद्धधर्म

ईसवी सन् ६०० से लगाकर १२०० तक भारतवर्ष में तीन धर्म—वैदिक, बौद्ध और जैन—मुख्यतः पाए जाते हैं। सातवीं सदी के प्रारंभ-काल में यद्यपि बौद्धधर्म की अवनति हो रही थी तो भी उसका प्रभाव बहुत कुछ था, जैसा कि हुएन्त्संग के यात्रा-विवरण से जान पड़ता है, अतएव हम बौद्ध-धर्म का विवेचन पहले करते हैं।

बौद्धधर्म की उत्पत्ति और उसका प्रचार—भारतवर्ष का प्राचीन धर्म वैदिक था, जिसमें यज्ञ-यागादि की प्रधानता थी और बड़े-बड़े यज्ञों में पशुहिंसा भी होती थी। मांस-भक्षण का प्रचार भी बढ़ा हुआ था। जैनों और बौद्धों के जीवदया-संबंधी सिद्धांत पहले से ही विद्यमान थे, परंतु उनका लोगों पर विशेष प्रभाव न था। शाक्य-वंशी राजकुमार गौतम (महात्मा बुद्ध) ने बौद्धधर्म का प्रचार बढ़ाने का बीड़ा उठाया और उनके उपदेश से अनेक लोग बौद्धधर्म ग्रहण करने लगे, जिनमें बहुत से राजा, राजवंशी, ब्राह्मण, वैश्य आदि भी थे। दिन-दिन इस धर्म का प्रचार बढ़ता गया और मौर्यवंशी सम्राट् अशोक ने उसे राजधर्म बनाकर अपनी आज्ञा से यज्ञादि में पशु-हिंसा की रोक-टोक की[1]। अशोक के प्रयत्न से बौद्धधर्म का प्रचार केवल भारत-वर्ष तक ही परिमित न रहा, बल्कि भारत के बाहर लंका तथा उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में उसका प्रचार और भी बढ़ गया। फिर बौद्ध श्रमणों (साधुओं) और भिक्षुओं के श्रम से शनैः-शनैः उसका प्रचार तिब्बत, चीन, मंचूरिया, मंगोलिया, जापान, कोरिया, श्याम, बर्मा और सायबीरिया के किरगिस और कलमुक आदि तक फैल गया।

बौद्धधर्म के सिद्धांत—यहाँ बौद्धधर्म के सिद्धांतों का संक्षिप्त विवे-

---

[1] अशोक की धर्मलिपियाँ; अशोक का पहला शिलालेख।

चन करना अप्रासंगिक न होगा। बौद्धधर्म के अनुसार जीवन दुःखमय है, जीवन और उसके सुखों की लालसा दुःखमूलक है, उस लालसा के नष्ट हो जाने से दुःख का नाश हो जाता है और पवित्र जीवन से यह लालसा नष्ट हो जाती है।

महात्मा बुद्ध के शब्दों में बौद्धमत मध्यम पथ है, अर्थात् न तो भोग-विलास में ही आसक्त रहना चाहिए और न अनिद्रा, अनाहार, तपस्या आदि कठोर कष्ट-साधनाओं के द्वारा आत्मा को क्लेश देना चाहिए। इन दोनों मार्गों के बीच में रहकर चलना चाहिए। संसार और उसके सब पदार्थ अनित्य और दुःखमय हैं। सब दुःखों का मूल कारण अविद्या है। आत्मनिरोध के द्वारा ही आत्मा की उन्नति हो सकती है। काम अथवा तृष्णा का सब प्रकार परित्याग करने से दुःख का निरोध होता है। इस तृष्णा के नाश ही का नाम निर्वाण है। यह निर्वाण जीवित अवस्था में भी प्राप्त हो सकता है। मनुष्य पंच स्कंधों का बना हुआ विशेष प्रकार का एक संघ है, जिसमें विज्ञान-स्कंध की मुख्यता है। विज्ञान-स्कंध को ही हम अपनी परिभाषा में आत्मा का स्थान दे सकते हैं। यही पंच स्कंधों का संघ कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में शरीर धारण करता है। इसी का नाम पुनर्जन्म है। विशेष साधनों के अनुष्ठान से इन स्कंधों का अपने मौलिक तत्त्वों में अंतर्भाव होना ही महानिर्वाण है। बौद्धधर्म की सबसे बड़ी विशेषता 'अहिंसा परमो धर्मः' है। किसी भी प्रकार की हिंसा करना बड़ा भारी पाप है, परंतु पीछे से भारतवर्ष के बाहर के बौद्धों ने इस मुख्य सिद्धांत की ओर यथोचित ध्यान न दिया। शील, समाधि और प्रजायज्ञ ही उत्कृष्ठ यज्ञ हैं। बौद्धधर्म की दूसरी विशेषता यह है कि वह ईश्वर के विषय में उदासीन है। ईश्वरोपासना के बिना भी उसके अनुसार मुक्ति या निर्वाण पाया जा सकता है। तीसरी विशेषता यह है कि वह हिंदूधर्म के प्रधानभूत अंग वर्णाश्रम को नहीं मानता। उसकी दृष्टि में सब—ब्राह्मण और शूद्र—समान रीति से सर्वोच्च स्थान पा सकते हैं। जन्म से नहीं किंतु कर्म से भी मनुष्य की प्रतिष्ठा की जानी चाहिए। बौद्धों के त्रिरत्न—बुद्ध, संघ और धर्म—माने जाते थे।

बौद्धधर्म की अवनति—अनेक राजाओं की ओर से संरक्षण पाकर

यह धर्म बहुत बढ़ा। समय-समय पर बौद्ध भिक्षुओं में मत-भेद होते रहने से बौद्धधर्म में भिन्न-भिन्न संप्रदाय उत्पन्न हुए। इन भेदों को दूर करने के लिए बौद्ध भिक्षुओं की महासभाएँ भी समय-समय पर होती रहीं, परंतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों मतभेद भी बढ़ते गए। चीनी यात्री इत्सिंग के समय में बौद्धधर्म के १८ भेद हो चुके थे। पीछे से राज्य का सहारा टूट जाने के कारण बहुत शीघ्रता से बौद्धधर्म की अवनति होने लगी और हिंदू-धर्म बहुत तेज़ी से उन्नति-पथ पर अग्रसर होने लगा, क्योंकि उसे राज्य की भी पर्याप्त सहायता मिल रही थी।

बौद्धधर्म पर हिंदूधर्म का प्रभाव और महायान संप्रदाय की उत्पत्ति--उन्नतिशील हिंदूधर्म का प्रभाव बौद्धधर्म पर बहुत पड़ा। बहुत से बौद्ध भिक्षुओं ने हिंदूधर्म की कई विशेषताओं को ग्रहण कर लिया। इसका परिणाम 'महायान' मत के रूप से कुशनवंशी राजा कनिष्क के समय में प्रकट हुआ। प्रारंभिक बौद्धधर्म संन्यास-मार्ग-प्रधान था। इसके अनुसार ज्ञान और चार आर्य-सत्यों की भावना से निर्वाण पाया जा सकता है। बौद्धधर्म में ईश्वर की सत्ता नहीं मानी गई थी। इसलिए बुद्ध की उपस्थिति में भक्ति के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का उपदेश नहीं दिया जा सकता था। महात्मा बुद्ध के पीछे बौद्ध भिक्षुओं ने देखा कि सब लोग गृहस्थी छोड़कर भिक्षु नहीं बन सकते और न शुष्क तथा निरीश्वर संन्यास-मार्ग उनकी समझ में आ सकता है। इसलिए उन्होंने भक्ति-मार्ग का सहारा लिया। स्वयं बुद्ध को उपास्य देव मानकर उनकी भक्ति करने का प्रतिपादन किया गया और बुद्ध की मूर्तियाँ बनने लगीं। फिर २४ अतीत बुद्ध, २४ वर्तमान बुद्ध और २४ भावी बुद्धों की कल्पना की गई। इतना ही नहीं, बोधिसत्वों और अनेक तांत्रिक देवियों आदि की भी कल्पना की गई, और इन सबकी मूर्तियाँ बनने लगीं। बौद्ध भिक्षुओं ने गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी भक्तिमार्ग द्वारा निर्वाणपद की प्राप्ति को संभव बताया। इस भक्ति-मार्ग--महायान--पर हिंदूधर्म या भगवद्गीता का बहुत प्रभाव पड़ा। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं--

(१) हीनयान संप्रदाय के ग्रंथ पाली में और महायान संप्रदाय के ग्रंथ संस्कृत में हैं।

(२) महायान मार्ग में भक्ति-मार्ग की प्रधानता है।

(३) हीनयान संप्रदाय में महात्मा बुद्ध देवता के रूप में पूजे नहीं जाते थे, परंतु महायान में देवता मानकर बुद्ध की पूजा होने लगी।

बौद्धधर्म के पतन के कारण—भारत में इस महायान संप्रदाय का प्रचार बहुत बढ़ता गया, इतना ही नहीं, बौद्ध-दर्शन पर भी हिंदू-दर्शन का प्रभाव बहुत पड़ा। नष्ट होता हुआ बौद्धधर्म, हिंदूधर्म पर भी गहरा प्रभाव डाले बिना न रहा। हिंदुओं ने बुद्ध को भी विष्णु का नवाँ अवतार मानकर बौद्ध जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। दोनों धर्मों में इतनी समानता बढ़ गई कि बौद्ध और हिंदू दंतकथाओं में भेद करना कठिन हो गया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि लोग बौद्धधर्म को छोड़ कर हिंदूधर्म का, जिसमें सब प्रकार की स्वतंत्रताएँ थी, आश्रय लेने लगे। बौद्धधर्म का अहिंसावाद यद्यपि मनोमोहक था, परंतु क्रियात्मक नहीं रह गया था। राजाओं को युद्ध करने पड़ते थे, साधारण जनता भी मांसाहार छोड़ना पसंद नहीं करती थी। हिंदूधर्म में ये रुकावटें न थीं और फिर ब्राह्मणों द्वारा बुद्धदेव विष्णु के अवतार मान लिए जाने पर बहुत से बुद्ध-भक्तों की रुचि भी हिंदूधर्म की ओर बढ़ने लगी। अत्यंत प्राचीन काल से ईश्वर पर विश्वास रखती हुई आर्यजाति का चिरकाल तक अनीश्वरवाद को मानना बहुत कठिन था। इसी तरह बौद्धों का वेदों पर अविश्वास हिंदुओं को बहुत खटकता था। कुमारिल तथा अन्य ब्राह्मणों ने बौद्धों के इन दोनों सिद्धांतों का ज़ोरों से खंडन आरंभ किया। उनका यह आंदोलन बहुत प्रबल था और इसका परिणाम भी बहुत व्यापक हुआ। कुमारिल के बाद ही शंकराचार्य के आ जाने से इस आंदोलन ने और भी ज़ोर पकड़ा। 'शंकरदिग्विजय' में कुमारिल के द्वारा शंकर को निम्नलिखित श्लोक कहलाया गया है। इससे शंकर के आंदोलन की व्यापकता का पता लगता है—

> **श्रुत्यर्थधर्मविमुखान् सुगतान् निहन्तुं**
> **जातं गुहं भुवि भवंतमहं नु जाने॥**

अर्थात् वेदार्थ से विमुख बौद्धों को नष्ट करने के लिए आप गुह (कार्त्ति-केय) रूप से उत्पन्न हुए हैं ऐसा मैं मानता हूँ।

इसी तरह दूसरे स्थानीय ब्राह्मणों ने भी हिंदूधर्म के प्रचार में बहुत सहायता दी। जहाँ हिंदूधर्म को राजधर्म बनाने से बौद्धधर्म की क्षति हुई वहाँ स्वयं बौद्धधर्म में भी बहुत सी त्रुटियाँ आ गई थीं; उसके बहुत से संप्रदायों में विभक्त होने का उल्लेख पहले किया जा चुका है, छोटी-छोटी बातों के कारण मत-भेद पैदा हो रहे थे। इसके अतिरिक्त बौद्ध भिक्षुओं में बाह्य आडंबर की अधिकता हो जाने के कारण भी जनता की उन पर से श्रद्धा उठती गई। अब बौद्ध भिक्षु वैसे सदाचारी और महात्मा न रहे थे। उनमें भी अधिकार-लिप्सा, धन-लिप्सा आदि दोष आ गए थे। वे मठों और विहारों में आराम से रहने लगे थे। उन्हें जनता के सुख-दुःखों का अधिक ध्यान न रहा था। इन सब बातों का बौद्धधर्म पर बहुत घातक परिणाम हुआ। बौद्धधर्म राज्य की सहायता पाकर जिस वेग से बढ़ा था उसी वेग से, राज्य की सहायता न पाने तथा अन्य उपर्युक्त बातों से, उसका पतन हुआ।

बौद्धधर्म के पतन का ऐतिहासिक घटनाक्रम—मौर्यवंश के अंतिम राजा बृहद्रथ के देहांत के साथ ही बौद्धधर्म की अवनति का प्रारंभ हो चुका था। बृहद्रथ को मारकर उसका शुंगवंशी सेनापति पुष्यमित्र मौर्य-साम्राज्य का स्वामी बन गया। उसने फिर वैदिक धर्म का पक्ष ग्रहण कर दो अश्वमेध यज्ञ किए। संभवतः उसने बौद्धों पर अत्याचार भी किया, ऐसा बौद्ध ग्रंथों से पाया जाता है। वस्तुतः यहीं से बौद्धधर्म की अवनति प्रारंभ होती है। उसी काल में राजपूताने में मध्यमिका (नगरी) के राजा पाराशरीपुत्र सर्वतात ने भी अश्वमेध यज्ञ किया। ऐसे ही दक्षिण में आंध्र (सातवाहन) वंशी वैदिश्री शातकर्णी के समय में अश्वमेध, राजसूय, दशरात्र आदि यज्ञ हुए। इसी तरह गुप्तवंशी समुद्रगुप्त और वाकाटकवंशियों के समय में भी अश्व-मेध आदि यज्ञ हुए, जैसा कि उनके समय के शिलालेखादि से पाया जाता है। इस प्रकार मौर्य-साम्राज्य के अंत से वैदिक धर्म की उन्नति के साथ-साथ बौद्ध-धर्म का ह्रास होने लगा। फिर वह क्रमशः अवनत होता ही गया। हुएन्त्संग

के यात्रा-विवरण से पाया जाता है कि उसके समय अर्थात् सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वैदिकधर्मावलंबियों की संख्या बढ़ने और बौद्धों की घटने लगी थी। बाणभट्ट के कथन से पाया जाता है कि थानेश्वर के वैसवंशी राजा प्रभाकर-वर्द्धन के ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्द्धन ने अपने पिता का देहांत होने पर राज्यसुख को छोड़कर भदंत (बौद्ध भिक्षुक) होने की इच्छा प्रकट की थी और ऐसा ही विचार उसके छोटे भाई हर्ष का भी था, जो कई कारणों से फलीभूत न हो सका। हर्ष भी बौद्धधर्म की ओर बड़ी रुचि रखता था। इन बातों से निश्चित है कि सातवीं शताब्दी में राजवंशियों में भी, वैदिक धर्म के अनुयायी होने पर भी, बौद्धधर्म की ओर सद्भाव अवश्य था। वि० सं० ८४७ (ई० स० ७९०) के शेरगढ़ (कोटा राज्य) के शिलालेख से पाया जाता है कि नागवंशी देवदत्त ने कोशवर्द्धन पर्वत के पूर्व में एक बौद्ध-मंदिर और मठ बनवाया था, जिससे अनुमान होता है कि वह बौद्धधर्मावलंबी था। ई० सन् की बारहवीं शताब्दी के अंत तक मगध और बंगाल को छोड़कर भारतवर्ष के प्रायः सभी विभागों में बौद्धधर्म नष्टप्राय हो चुका था और वैदिक धर्म ने उसका स्थान ले लिया था।

जैनधर्म

जैनधर्म की उत्पत्ति और उस समय का हिंदूधर्म—जैनधर्म भी बौद्धधर्म से कुछ पूर्व भारतवर्ष में प्रादुर्भूत हुआ। महावीर का निर्वाण गौतम बुद्ध से पूर्व हो चुका था। उस समय के वैदिक धर्म के मुख्य सिद्धांत ये थे:—

१—वेद ईश्वरीय ज्ञान है।

२—वैदिक देवताओं—इंद्र, वरुण आदि—की पूजा।

३—यज्ञों में पशुहिंसा।

४—वर्णव्यवस्था।

५—आश्रमव्यवस्था।

६—आत्मा और परमात्मा का सिद्धांत।

७—कर्मफल और पुनर्जन्म का सिद्धांत।

महावीर तथा बुद्ध ने उपर्युक्त पहले पाँच सिद्धांतों को अस्वीकार किया। महावीर ने केवल दो आश्रम—वानप्रस्थ और संन्यास—माने, जब कि बुद्ध ने केवल संन्यासाश्रम पर ही ज़ोर दिया। परमात्मा को महावीर ने स्वीकार न किया और बुद्ध ने भी इस पर कोई विचार न किया। बौद्धधर्म के विषय में हम ऊपर लिख आए हैं, इसलिए यहाँ केवल जैनधर्म और उसकी प्रगति पर कुछ प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

जैनों के कथनानुसार महावीर २४वें तीर्थंकर थे। उनसे पूर्व २३ तीर्थंकर हो चुके थे। संभवतः यह कल्पना बौद्धों के २४ बुद्धों की कल्पना का अनुकरण हो, अथवा बौद्धों ने जैनों से यह ली हो। महावीर राजा सिद्धार्थ क्षत्रिय के पुत्र वैशाली में उत्पन्न हुए; उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली और बारह वर्ष तक छद्मवेश में रहकर कठिन तपस्या की। उसके बाद उन्होंने अपने मत का प्रचार आरंभ किया और ७२ वर्ष की अवस्था में उनका निर्वाण हुआ।

जैनधर्म के मुख्य सिद्धांत—जैनधर्म के मुख्य सिद्धांत ये हैं। जैन धर्मावलंबी जीव, अजीव, आश्रव (मन, वचन और शरीर का व्यापार एवं शुभाशुभ के बंध का हेतु), संबर (आश्रव का रोकनेवाला), बंध, निर्जरा (बंधकर्मों का क्षय), मोक्ष, पुण्य और पाप नौ तत्त्व मानते हैं। जीव अनादि और अनंत है। जीव अर्थात् चैतन्य आत्मा कर्म का कर्त्ता और फल का भोक्ता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति यह सब व्यक्त और अव्यक्त रूप से चैतन्य गुण वाले हैं। काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्यम, उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं। इन्हीं पाँच निमित्तों से परमाणु (पुद्गल) नियमपूर्वक आपस में मिलते हैं, जिससे जगत् की प्रवृत्ति होती है और यही कर्म के फल देते हैं। जीव के साथ कर्मो का संयोग रहने से उनके भोग के वास्ते वह बार-बार शरीर धारण करता है। जीव सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र द्वारा कर्मों के बंधन से छूटकर अपने रूप में स्थित होता है। ये तीनों जैनधर्म के रत्न हैं। मुक्ति का मुख्य साधन केवल ज्ञान है। शरीर छोड़ने के बाद मुक्त चौसठ हज़ार योजन लंबी शिला पर अधर में स्थित होकर सदा अपने ही ज्ञान में लोकालोक देखता हुआ आनंद

से रहता है। जैन लोग सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर को नहीं मानते। उनके मतानुसार यह सृष्टि अनादि और अनंत है। प्रलय होने के समय वैताढ्य पर्वत में सब प्रकार के जीवों के जोड़े रह जाते हैं, उन्हीं से फिर सृष्टि का प्रारंभ होता है। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द और क्रिया से रहित अतींद्रिय, अविनाशी, अनुपाधि, अबंध, अक्लेशी, अमूर्ति, शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा ही निश्चय देव है। इससे पृथक् कोई ईश्वर नहीं। आत्मस्वरूप का यथार्थ बोध करनेवाला मनुष्य ईश्वरपद को प्राप्त हो जाता है। मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति और कायगुप्ति के साथ पंच महाव्रत (अहिंसा, सत्य-भाषण, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) तथा क्षमा, निरभिमानता, तृष्णात्याग, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिंचन और ब्रह्मचर्य आदि श्रमणधर्मों का पालन करनेवाला गुरु होता है। दया और अहिंसा जैनों का मुख्य धर्म है; वे वेदों को नहीं मानते। उनमें व्रत, उपवास और तपस्या का विशेष महत्व है। कई देवी-देवताओं को भी जैनी मानते हैं। कई साधुओं आदि के अनशन व्रत से प्राण छोड़ने के उदाहरण भी मिले हैं[1]।

बौद्ध और जैनधर्म का पार्थक्य—बौद्धधर्म और जैनधर्म में बहुत सी समानताओं को देखकर कुछ यूरोपीय विद्वानों ने संदेह किया है कि ये धर्म एक ही स्रोत से निकले हैं और बुद्ध महावीर का शिष्य था। पीछे से यह दो मतों में बट गया। वस्तुतः यह ठीक नहीं है। दोनों धर्म भिन्न-भिन्न हैं। अशोक के एक धर्म-लेख में निर्ग्रंथों (जैनों) और आजीवकों के लिए धर्ममहामातृकों को नियुक्त करने का उल्लेख मिलता है। स्वयं बुद्ध गृहस्थाश्रम छोड़ने के बाद ऐसे साधुओं के साथ रहे थे, जो तपोमय जीवन व्यतीत करते थे। संभवत. ये जैन होंगे और इन्हीं के संग में रहकर बुद्ध ने इनकी बहुत सी बातों का बौद्धधर्म में समावेश कर लिया हो।

जैनधर्म के संप्रदाय—बौद्धधर्म की तरह जैनधर्म भी दो मुख्य विभागों—दिगंबर और श्वेतांबर—में विभक्त हो गया। दिगंबर साधु नग्न रहते हैं और श्वेतांबर सफ़ेद या पीले कपड़े पहनते हैं। इन दोनों शाखाओं

---

[1] जगमंदिरलाल जैनी, 'आउटलाइंस आफ़ जैनिज़्म', पृ० ७–६६

के सिद्धांतों में विशेष मतभेद नहीं है। दिगंबर स्त्री का मोक्ष होना नहीं मानते और श्वेतांबर मानते हैं। दिगंबर तीर्थंकरों की प्रतिमा पूजते हैं, परंतु श्वेतांबरों की तरह पुष्प, धूप और वस्त्राभूषण से पूजा नहीं करते। उनका कहना है कि तीर्थंकर वीतराग थे, फिर इस प्रकार रागयुक्त द्रव्यादि से सेवा कर उनको सरागी बनाना महापाप है। यह भेद कब हुआ, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

जैनधर्म का अधिक प्रचार न होने के कारण—यद्यपि बौद्धमत की अपेक्षा जैनमत का प्रादुर्भाव पहले हुआ था, तथापि उसका बौद्धधर्म के समान प्रचार नहीं हुआ। इसके कई कारण हैं। बौद्धमत के सिद्धांत शीघ्र ही प्राकृत भाषा में लिखे गए और जैन-सिद्धांत दीर्घ-काल तक ग्रंथरूप में परिणत नहीं किए गए। ऐसा माना जाता है कि ई० सन् की पाँचवीं शताब्दी के मध्य में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने वलभी की धर्मपरिषद् में उनके धर्मग्रंथों को लिपिबद्ध कराया। बौद्ध भिक्षुओं का जीवन जैन साधुओं की अपेक्षा अधिक सरल और कम कठोर एवं तपस्यामय होता था, जिससे भी लोगों का आकर्षण बौद्धमत की ओर अधिक हुआ। फिर जैनधर्म को राजधर्म बनाकर उसका प्रचार करनेवाले राजा कम मिले, जैसे कि बौद्धधर्म को अशोक और कनिष्क आदि मिले थे। केवल कलिंग के राजा खारवेल ने, जो ई० सन् की दूसरी शताब्दी के आसपास हुआ था, जैनधर्म को स्वीकार कर उसकी कुछ उन्नति की। इन कारणों से जैनधर्म का प्रचार बहुत शनैः-शनैः हुआ।[1]

जैनधर्म की उन्नति और अवनति—हमारे निर्दिष्ट काल में जैन-धर्म का प्रचार आंध्र, तामिल, कर्नाटक, राजपूताना, गुजरात, मालवा तथा बिहार और उड़ीसे के कुछ भाग में था। दक्षिण में ही जैनों ने अपने मत का विशेष प्रचार किया। वहाँ वे संस्कृत भाषा के शब्दों का बहुत प्रयोग करते थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण की तामिल, आंध्र आदि भाषाओं में संस्कृत के बहुत से शब्द मिल गए। जैनों ने वहाँ पाठशालाएँ भी खोलीं। आज भी वहाँ बालकों को वर्णमाला सिखाते समय पहला वाक्य

---

[1] **सी० वी० वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मीडिएवल इंडिया', जिल्द ३, पृ० ४०५-६**

'ॐ नमः सिद्धम्', पढ़ाया जाता है, जो जैनों की नमस्कार-विधि है। दक्षिण में कई राजाओं ने जैनधर्म को आश्रय दिया। तामिल प्रदेश में पांड्य और चोल राजाओं ने जैन गुरुओं को दान दिए, उनके लिए मदुरा के पास मंदिर और मठ बनवाए। शनैः-शनैः जैनों में भी मूर्तिपूजा का प्रचार बढ़ा और तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनने लगीं। हमारे निर्दिष्ट समय के मध्यकाल से इस धर्म का उधर ह्रास होना भी प्रारंभ हो गया।

शैवमत के प्रचारकों ने वहाँ जैनधर्म को बहुत क्षति पहुँचाई। चोल राजाओं ने, जो पीछे शिव के भक्त हो गए थे, जैनधर्म को वहाँ से उठाने के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया। राजराज चोल ने मदुरा के मंदिर में बहुत से शैव साधुओं की प्रतिमाएँ बनवाकर रखवाई। कर्नाटक में पहले चालुक्यों ने जैनधर्म को बहुत सहायता पहुँचाई थी और दक्षिण के राष्ट्रकूटों के समय (ई० स० ८००—१०००) में जैनधर्म बहुत उन्नत हुआ था। पिछले चालुक्य राजाओं ने (ई० स० १०००—१२००) शैवधर्म स्वीकार कर जैनधर्म को वहाँ से उठाने का प्रयत्न किया। जैन-प्रतिमाएँ उठाकर वहाँ पौराणिक देवताओं की प्रतिमाएँ फिर से रक्खी गईं। तुंगभद्रा से परे के कर्नाटक प्रदेश में गंगवंशी राजा जैन थे। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में चोल राजाओं ने गंगवंशी राजा को परास्त कर दिया। शनैः-शनैः होयसल राजाओं ने गंगवाडि पर अधिकार कर लिया। वे भी पहले जैन थे, परंतु रामानुज ने विष्णुवर्धन को वैष्णव बनाकर मैसर में वैष्णव-मत का प्रचार प्रारंभ कर दिया। इस तरह प्रायः संपूर्ण दक्षिण में जैनधर्म क्रमशः क्षीण होता गया। इस अवनति के मुख्य कारण शैवमत का प्रचार और वहाँ के राजाओं का जैनियों पर अत्याचार ही थे। उड़ीसा में भी शैवमत ने आकर उसके पैर उखाड़ दिए। वहाँ के राजाओं ने जैनधर्म पर अत्याचार कर उसे नष्ट कर दिया।[१]

जब दक्षिण में जैनधर्म का इस तरह ह्रास हो रहा था, पश्चिम में वह बढ़ने और समृद्ध होने लगा। राजपूताना, मालवा और गुजरात में यह धर्म

---

[१] सी० वी० वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मीडिएवल इंडिया', जिल्द ३, पृ० ४०६-१०

बहुत बढ़ने लगा, यद्यपि इन प्रदेशों के राजा भी शैव थे। जैन आचार्य हेमचंद्र जैनधर्म की इस वृद्धि का मुख्य कारण था। हेमचंद्र गुजरात में एक श्वेतांबर वैश्य के यहाँ १०८४ ई० में उत्पन्न हुआ था। पढ़-लिखकर यह अनहिलवाड़ा के जैन उपाश्रय का आचार्य हुआ। वह संस्कृत और प्राकृत का बड़ा भारी विद्वान् था। उसने द्वयाश्रयमहाकाव्य, देशीनाममाला, संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण आदि अनेक ग्रंथ लिखे। गुजरात के राजा जयसिंह (सिद्धराज) और कुमारपाल पर उसका बहुत प्रभाव था। कुमारपाल ने जैनधर्म स्वीकार कर उसकी उन्नति के लिए बहुत प्रयत्न किया, जिससे गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, राजपूताना और मालवे में जैनधर्म का प्रचार बहुत हुआ[1]।

इन प्रदेशों के अतिरिक्त शेष भारत में जैनधर्म का प्रचार नहीं के बराबर हुआ। पीछे से कहीं-कहीं मारवाड़ी व्यापारियों ने जैन-मंदिर ज़रूर बनवाए हैं, परंतु जैनधर्म के अनुयायी बहुत थोड़े ही रह गए हैं।

ब्राह्मण-धर्म

प्राचीन ब्राह्मणधर्म—भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से वैदिक धर्म प्रचलित था। ईश्वर की उपासना, यज्ञ करना तथा वर्णव्यवस्था आदि इसके मुख्य अंग थे। यज्ञ में पशु-हिंसा भी होती थी। ईश्वर की उपासना उसके भिन्न-भिन्न नामों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में होती थी। प्रायः सारे भारत-वर्ष में वैदिक धर्म का प्रचार था। बौद्धधर्म की उन्नति के समय में उसे राज्य की सहायता मिलने के कारण हिंदूधर्म का प्रचार शनैः-शनैः कम होता गया, और जैनधर्म ने भी इसे कुछ हानि पहुँचाई। बौद्ध और जैन-धर्मों की उन्नति के समय में भी वैदिक धर्म या हिंदूधर्म क्षीण तो हुआ, परंतु नष्ट नहीं हुआ। ज्योंही बौद्धधर्म का प्रभाव कम होने लगा त्योंही हिंदूधर्म ने बहुत वेग से उन्नति आरंभ की और वह बहुत विकसित तथा पल्लवित होने लगा।

ब्राह्मणधर्म में मूर्तिपूजा का प्रचार—बौद्धधर्म से ही हिंदूधर्मा-

---

[1] सी० वी० वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मीडिएवल इंडिया', जिल्द ३, पृ० ४११

वलंबियों ने बहुत सी बातें सीखीं। उपास्यदेवों की पूजा के लिए उनकी मूर्तियों की कल्पना हुई। मूर्तिपूजा कब से प्रचलित हुई, यह नहीं कहा जा सकता। सबसे प्रथम ई० पूर्व २०० के नगरी के शिलालेख में संकर्षण और वासुदेव की मूर्तिपूजा के लिए मंदिर बनाने का उल्लेख मिलता है। यह मूर्तिपूजा का सबसे प्राचीन लिखित उदाहरण है। इससे ज्ञात होता है कि यह प्रथा उससे बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी। हिंदूधर्म का ज्यों-ज्यों पुनः प्रचार बढ़ता गया त्यों-त्यों उसमें भिन्न-भिन्न आचार्यों ने धार्मिक संप्रदाय भी बनाने शुरू किए। सबसे पहले हम वैष्णव-संप्रदाय पर कुछ विचार करेंगे।

वैष्णव-संप्रदाय का उद्भव--भगवद्गीता के विराट् रूप के वर्णन को लक्ष्य में रखकर सात्वतों (यादवों ने वासुदेव की भक्ति के प्रचार के लिए उनकी उपासना चलाई, जो सात्वत या भागवत संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुई। लोगों में कर्मकांड और बड़े यज्ञों से घृणा उत्पन्न हो गई थी। इस लिए उन्होंने इस भक्तिमार्ग को बहुत पसंद किया। भक्तिमार्ग का प्रचार होने पर समय पाकर विष्णु की मूर्तियाँ भी बनने लगीं, इसका काल अनिश्चित है; परंतु नगरी के उपर्युक्त शिलालेख में, जो ई० पूर्व २०० का है, संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिए शिलाप्राकार बनाने का उल्लेख है। इससे पहले मूर्ति का उल्लेख शिलालेखों में नहीं मिलता। तो भी ईसवी सन् पूर्व की चौथी शताब्दी का लेखक मेगास्थनीज़ मथुरा के शूरसेनी यादवों के संबंध में हेरिक्लस (हरिकृष्ण, वासुदेव) की पूजा का उल्लेख करता है। पाणिनि ने भी अपने सूत्रों में वासुदेव के नाम का उल्लेख किया है, जिस पर टीका करते हुए पतंजलि ने वासुदेव को आराध्य देवता कहा है। अनुमान होता है कि पाणिनि के समय (ई० पूर्व ६००) में भी वासुदेव की पूजा प्रचलित हो चुकी थी अतः भागवत संप्रदाय तथा मूर्ति-पूजा उससे भी प्राचीन होगी [1]।

वैष्णवधर्म के सिद्धांत और उसका प्रचार--वैष्णव-संप्रदाय ने

---

[1] सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म, एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स', पृ० ८-१०

वैदिक धर्म के यज्ञ-यागादि नहीं छोड़े। इस संप्रदाय के लोग भी अश्वमेधादि बड़े-बड़े यज्ञ करते रहे, जिनमें पशुहिंसा होती रही। पीछे से वैष्णवों ने बौद्ध-धर्म से प्रभावित होकर अहिंसा को प्रधानता दी। भागवत-संप्रदाय का मुख्य ग्रंथ पंचरात्रसंहिता है। इस संप्रदायवाले अभिगमन (मंदिर में जाना), उपादान (पूजा की सामग्री एकत्र करना), इज्या (पूजा), स्वाध्याय (मंत्रों का पढ़ना) और योग से भगवान् का साक्षात्कार होना मानते थे। फिर बैष्णवों ने विष्णु के चौबीस अवतारों—ब्रह्मा, नारद, नर, नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभदेव, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वंतरि, मोहिनी, नृसिह, वामन, परशुराम, वेदव्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, हंस और हयग्रीव—की कल्पना की; जिनमें से दस अवतार—मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि—मुख्य माने गए। बुद्ध और ऋषभ को हिंदुओं के अवतारों में स्थान देने से निश्चित है कि बौद्ध और जैनधर्म का प्रभाव हिंदूधर्म पर पड़ गया था, और इस लिए उनके प्रवर्तक विष्णु के अवतारों में सम्मिलित किए गए। संभव है कि चौबीस अवतारों की यह कल्पना भी बौद्धों के २४ बुद्ध और जैनों के २४ तीर्थंकरों की कल्पना के अनुकरण पर हुई हो। विष्णु के मंदिर ई० सन् पूर्व २०० से लेकर हमारे निर्दिष्ट काल तक ही नहीं, अब तक बराबर बन रहे हैं। शिलालेखों, ताम्रपत्रों, एवं प्राचीन ग्रंथों में विष्णु-पूजकों का वर्णन मिलता है। दक्षिण में भागवत-संप्रदाय का प्रचार नवीं शताब्दी के आसपास हुआ और उधर के आलवार राजा कृष्ण के परम भक्त थे। पीछे से आलवार भी राम के भक्त होने लग गए। यह आश्चर्य की बात है कि राम के विष्णु के अवतार होते हुए भी दसवीं शताब्दी तक उनके मंदिरों या मूर्तियों के होने का कहीं पता नहीं लगता, और कृष्ण के समान राम की भक्ति प्राचीन काल में रही हो, ऐसा नहीं पाया जाता। पीछे से राम की भी पूजा होने लगी, रामनवमी आदि त्यौहार मनाए जाने लगे[१]।

---

[१] **सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स', पृ० ३९-४७**

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत संप्रदाय—शंकराचार्य के अद्वैतवाद के प्रचार से भक्ति मार्ग को गहरा धक्का लगा। आत्मा और ब्रह्म में एकता होने पर किसी की भक्ति की आवश्यकता न रही, इसलिए रामानुज ने जिसका जन्म १०१६ ई० में हुआ, भक्ति मार्ग का प्रचार करने के लिए अद्वैतवाद का खंडन करना प्रारंभ किया। उस समय के चोल राजा ने, जो शैव था, रामानुज की वैष्णवधर्म में भक्ति देखकर उसे सताया, जिससे वह भाग कर द्वारसमुद्र के यादवों के पास पहुँचा और वहीं उसने अपना कार्य आरंभ किया। फिर मैसूर के राजा विष्णुवर्द्धन को वैष्णव बनाकर वह दक्षिण में अपना प्रचार करने लगा। उसने लोगों को बताया कि भक्तिमार्ग के लिए ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों की आवश्यकता, है। यज्ञ, व्रत, तीर्थयात्रा, दान आदि से आत्मा की शुद्धि होती है। ज्ञानयोग भक्ति की ओर ले जाता है और भक्ति से ईश्वर का साक्षात्कार होता है। जीवात्मा और जगत् दोनों ब्रह्म से भिन्न होने पर भी वस्तुतः भिन्न नहीं है। सिद्धांत में ये एक ही हैं, परंतु कार्यरूप में एक दूसरे से भिन्न और विशिष्ट गुणों से युक्त हैं। इस संप्रदाय के विशेष दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन दर्शन के संबंध में किया जायगा। रामानुज के इस संप्रदाय का प्रचार दक्षिण में अधिक और उत्तर में कम हुआ[1]।

मध्वाचार्य और उनका संप्रदाय—ग्यारहवीं सदी और उसके पीछे के वैष्णव आचार्यों का मुख्य उद्देश्य अद्वैतवाद को दूर करके भक्ति-संप्रदाय स्थापित करना था। यद्यपि रामानुज ने विशिष्टाद्वैत संप्रदाय चलाकर शंकर के अद्वैत के प्रभाव को नष्ट करने का प्रयत्न किया, तथापि वह उसमें पूर्णतया सफल न हुआ। विशिष्टाद्वैत के सिद्धांतों से ब्रह्म और जीव में परस्पर भेद सिद्ध न हुआ, इसलिए बारहवीं शताब्दी के वैष्णव आचार्य मध्वाचार्य को विशिष्टाद्वैत संतुष्ट न कर सका। उसने परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तीनों को भिन्न मानकर अपने नाम से 'मध्व' संप्रदाय चलाया। इसके

---

[1] **सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स', पृ० ५१-५७**

दार्शनिक सिद्धांतों का परिचय हम दर्शन के प्रकरण में देंगे । मध्वाचार्य का जन्म शक संवत् ११११ (ई० स० ११९७) में हुआ था। उसने भी वेदांत-दर्शन और उपनिषदों का अपने सिद्धांतों के अनुकूल भाष्य किया। किसी प्रामाणिक ग्रंथ का आश्रय लिए बिना सफलता का मिलना कठिन था, इसलिए रामायण-र्वाणत राम और सीता की मूर्तियोंकी पूजा पर उसने ज़ोर दिया और अपने शिष्य नरहरितीर्थ को जगन्नाथ (उड़ीसा) में राम और सीता की मूर्तियाँ लाने को भेजा। नरहरितीर्थ के अतिरिक्त उसके प्रमखु शिष्य पद्मनाभतीर्थ, माधवतीर्थ और अक्षोभ्यतीर्थ थे। मध्व-संप्रदाय वाले वैराग्य, शम, शरणागति (ईश्वर के शरण में अपने को सौंप देना), गुरुसेवा, गुरुमुख से अध्ययन, परमात्मभक्ति, अपने से बड़ों में भक्ति, समवयस्कों में प्रेम और अपने से छोटों पर दया, यज्ञ, संस्कार, सब कार्य हरि के समर्पण करना तथा उपासना आदि अनेक साधनों से मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं। मध्व के अनुयायी मस्तक पर दो सफ़ेद सीधी रेखाएँ डालकर बीच में एक काली रेखा खींचते हैं और मध्य में लाल बिंदु लगाते हैं। इनके वस्त्रों पर भी बहुधा शंख, चक्र, गदा, आदि के चित्र अंकित होते हैं। इस संप्रदाय का प्रचार दक्षिणी कर्नाटक में अधिक है। मध्वाचार्य के बाद भी वैष्णवों में वल्लभ आदि संप्रदायों का उदय हुआ, परंतु वे हमारे समय से पीछे के हैं [१]।

विष्णु की मूर्ति—विष्णुकी मूर्ति पहले चतुर्भुज होती थी या द्विभुज, इसका ठीक निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि पाँचवीं शताब्दी के पूर्व की बनी हुई उनकी कोई मूर्ति नहीं मिली। बुद्ध और सूर्य की सब मूर्तियाँ द्विभुज मिलती हैं और कडफिसिस के पहली शताब्दी के सिक्के पर बैल के पास खड़ी हुई त्रिशूलधारी शिव की मूर्ति बनी है, जो बुद्ध के समान द्विभुज ही है। जैसे हिंदुओं ने बुद्धावतार की मूर्ति को चतुर्भुज बना दिया वैसे ही विष्णु और शिव की मूर्तियाँ पीछे से चतुर्भुज बनी हों तो कोई आश्चर्य नहीं। भिन्न-भिन्न प्रकार की मूर्तियों के बनने के प्रवाह में विष्णु की चौदह और

---

[१] सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म, एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स', पृ० ५७-६१

चौबीस हाथवाली मूर्तियों की कल्पना भी की गई और उनके हाथों में भिन्न-भिन्न आयुध दिए गए। ऐसी भी कुछ मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। विष्णु की त्रिमूर्तियाँ तीन मुखवाली भी मिली हैं, जिनमें या तो किरीट सहित विष्णु के तीन मुख प्रदर्शित किए गए या मध्य में विष्णु और दोनों ओर क्रमशः वराह और नृसिंह की मूर्तियाँ बनाई गईं। शायद ये मूर्तियाँ शिव की त्रिमूर्ति का अनुकरण हों।

शैव-संप्रदाय—विष्णु के समान शिव की भी उपासना और पूजा शुरू हुई और उनके उपासक उन्हीं को सृष्टि का कर्ता, धर्ता और हर्ता मानने लगे। इस संप्रदाय के ग्रंथ 'आगम' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस मत को मानने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार की शिव की मूर्तियाँ बनाने और पूजने लगे। वे शिव की मूर्ति के या तो छोटे स्तंभ की आकृति का गोल लिंग, या ऊपर का भाग गोल और चारों तरफ़ चार मुख बनाने लगे। ऊपर का भाग विश्व या ब्रह्मांड का सूचक और चारों तरफ़ के मुखों में से पूर्ववाला सूर्य का, उत्तरवाला ब्रह्मा का, पश्चिमवाला विष्णु का और दक्षिणवाला रुद्र का सूचक होता था। कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं, जिनके चारों ओर मुख नहीं, किंतु इन चारों देवताओं की मूर्तियाँ ही बनी हुई हैं। कुछ ऐसी मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जिनमें ऊपर तो चारों मुख हैं और नीचे उनके सूचक देवताओं की खड़ी मूर्तियाँ बनी हैं। मूर्तियों को देखने से अनुमान होता है कि उनके बनानेवालों का यही मंतव्य होगा कि जगत् का निर्माता शिव और ये चारों देवता उसी के नाम के भिन्न-भिन्न रूप हैं। शिव की विशालकाय त्रिमूर्ति भी कहीं-कहीं पाई जाती है। उसके छः हाथ, जटा सहित तीन सिर और तीन मुख होते हैं, जिनमें से एक रोता हुआ होता है, जो शिव के रुद्र कहलाने का सूचक है। उसके मध्य के दो हाथों में से एक में बीजोरा तथा दूसरे में माला, दाहिनी तरफ़ के दो हाथों में से एक में सर्प और दूसरे में खप्पर और बाईं ओर के दो हाथों में से एक में पतले दंड सी कोई वस्तु और दूसरे में ढाल या काच की आकृति का कोई छोटा सा गोल पदार्थ होता है। त्रिमूर्ति वेदी के ऊपर दीवार से सटी रहती है और उसमें छाती से कुछ नीचे तक का ही हिस्सा होता है। त्रिमूर्ति के सामने भूमि पर बहुधा शिवलिंग होता

है। ऐसी त्रिमूर्तियाँ बंबई से ६ मील दूर के धारापूरी (एलिफंटा) नामक टापू, चित्तौड़ के क़िले, सिरोही राज्य आदि कई स्थानों में देखने में आई हैं, जिनमें सबसे पुरानी धारापुरीवाली है। शिव के ताण्डव-नृत्य की पाषाण या धातु की मूर्तियाँ भी कई जगह मिली हैं।

शैव-संप्रदाय की भिन्न-भिन्न शाखाएँ और उनके सिद्धांत—शैव-संप्रदाय सामान्य रूप से पाशुपत-संप्रदाय कहलाता था, फिर उसमें लकुलीश संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी उत्पत्ति के संबंध में ई० स० ९७१ के शिलालेख में लिखा है कि पहले भड़ौच में विष्णु ने भृगु मुनि को शाप दिया, तो भृगु ने शिव की आराधना कर उनको प्रसन्न किया। इस पर उसके सम्मुख हाथ में लकुट (डंडा) लिए हुए शिव का कायावतार हुआ। हाथ में लकुट लिए होने से वह लकुटीश (लकुलीश अथवा नकुलीश) कहलाया और जिस स्थान में वह अवतार हुआ, वह कायावतार (कारवान्, बड़ौदा राज्य में) कहलाया, और लकुलीशों का मुख्य स्थान समझा गया। लकुलीश की कई मूर्तियाँ राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, दक्षिण (मैसूर तक), बंगाल और उड़ीसा में पाई जाती हैं, जिससे ज्ञात होता है कि यह संप्रदाय बहुधा सारे भारतवर्ष में फैल चुका था। उस मूर्ति के सिर पर बहुधा जैन मूर्तियों के समान केश होते हैं, वह द्विभुज होती है, उसके दाहिने हाथ में बीजोरा और बाएँ में लकुट होता है। वह मूर्ति पद्मासन में बैठी हुई होती है। लकुलीश के ऊर्ध्वरेता होने का चिह्न (ऊर्ध्वलिंग) मूर्ति में बना रहता है।

लकुलीश के चार शिष्यों—कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य—के नाम लिंगपुराण (२४—१३१) में मिलते हैं, जिनके नाम से चार शैव उपसंप्रदाय चले। आज लकुलीश संप्रदाय को माननेवाला कोई नहीं रहा और अब सर्वसाधारण में से भी बहुत थोड़े से लोग लकुलीश नाम से परिचित हैं। पाशुपत-संप्रदाय के लोग महादेव को ही सृष्टि का कर्ता, धर्ता और हर्ता समझते हैं। योगाभ्यास और भस्मस्नान को वे आवश्यक समझते हैं और मोक्ष को मानते हैं। ये छः प्रकार की—हास, गान, नर्तन, हुडुक्कार (बैल की तरह आवाज़ करना), साष्टांग प्रणिपात और जप-क्रियाएँ करते हैं। इसी

तरह और भी बहुत सी क्रियाएँ हैं, जिन्हें इस संप्रदायवाले करते हैं। शैव-संप्रदाय के लोगों का विश्वास है कि जीवों के कर्मानुसार शिव फल देता है। पशु या क्षेत्रज्ञ जीव, नित्य और अणु है। जब वह पाशों (माया का एक रूप) से छूट जाता है तब वह भी शिव हो जाता है, पर महाशिव की तरह स्वतंत्र नहीं होता। कर्म और पाश माया ही है। जप और योगसाधना आदि को भी वे मुख्य स्थान देते थे। शैवों के अन्य दो संप्रदायों—कापालिक और कालामुख—के अनुयायी शिव के भैरव और रुद्र रूप की उपासना करते हैं। इन दोनों में विशेष भेद नहीं है। इनके छः चिह्न—माला, भूषण, कुंडल, रत्न, भस्म और उपवीत—मुख्य हैं। इनका विश्वास है कि ऐसा करने से मनुष्य आवागमन के चक्कर से छूट जाता है। इस संप्रदाय के माननेवाले मनुष्य की खोपड़ी में खाते हैं, श्मशान की राख से शरीर मलते तथा उसे खाते भी हैं, एक डंडा और शराब का प्याला अपने पास रखते और पात्र-स्थित देवता की पूजा करते हैं। इन बातों को वे इहलोक और परलोक में इच्छापूर्ति का साधन समझते हैं। 'शंकरदिग्विजय' में माधव ने शंकर के एक कापालिक से मिलने का उल्लेख किया है। बाण ने 'हर्षचरित' में भी एक भयंकर कापालिक आचार्य का वर्णन किया है। भवभूति ने 'मालतीमाधव' में खोपड़ियों की माला पहने हुए कपालकुंडला नाम की एक स्त्री का वर्णन किया है। इन दोनों संप्रदायों के साधुओं का जीवन बहुत भयंकर था। इस संप्रदाय के अनुयायी साधु ही होते थे, सामान्य जनता नहीं। अब तो इस संप्रदाय का अनुयायी शायद ही कोई हो।

काश्मीर में भी शैवधर्म का प्रचार विशुद्ध रूप में था। वसुगुप्त ने इस संप्रदाय का मूल ग्रंथ 'स्पंदशास्त्र' लिखा, जिसकी टीका उसके शिष्य कल्लट ने, जो अवंतिवर्मा (८५४ ई०) के समय में था, 'स्पंदकारिका' के नाम से की। इनका मुख्य सिद्धांत यह था कि परमात्मा मनुष्यों के कर्मफल की अपेक्षा न कर अपनी इच्छा से ही किसी सामग्री के बिना सृष्टि को पैदा करता है।

काश्मीर में सोमानंद ने दसवीं सदी में शैव-संप्रदाय की एक शाखा—प्रत्यभिज्ञा-संप्रदाय—का प्रचार किया। उसने 'शिवदृष्टि' नामक ग्रंथ लिखा। इसमें और प्रथम शाखा में अधिक भेद नहीं है।

जिस समय वैष्णवधर्म अहिंसा आदि को लिए हुए नए रूप में आंध्र और तामिल प्रदेश तथा पूर्व में शैव-संप्रदाय के विरोध में फैल रहा था, उस समय कर्नाटक में एक नवीन शैव-संप्रदाय का जन्म हुआ। कानड़ी भाषा के 'बसव-पुराण' से पाया जाता है कि कलचुरि राजा विज्जल के समय (बारहवीं सदी) में बसव नामक ब्राह्मण ने जैनधर्म को नष्ट करने की इच्छा से लिंगायत (वीर शैव) मत चलाया। उसके गुणों को देखकर बिज्जल ने उसे अपना मंत्री नियत किया और वह जंगमों (लिंगायत संप्रदाय के धर्मोपदेशकों) के लिए बहुत द्रव्य खर्च करने लगा। डाक्टर फ्लीट के कथनानुसार एकांत इस संप्रदाय का प्रवर्त्तक था,बसव तो इसका एक उत्तम प्रचारक मात्र था। ये जैनों के शत्रु थे और उनकी मूर्तियाँ फिंकवाते थे। इस संप्रदाय में अहिंसा को मुख्य स्थान दिया गया था। इसमें हिंदू समाज के प्रधान अंग वर्णव्यवस्था को कोई स्थान नहीं मिला और न संन्यास या तप को ही कोई मुख्यता प्राप्त हुई। बसव ने कहा कि प्रत्येक प्राणी को, चाहे वह जंगम ही क्यों न हो, अपने श्रम से कमाना चाहिए, न कि भीख माँगकर। उसने सदाचार पर भी बौद्धों और जैनों की अपेक्षा कम ध्यान नहीं दिया। भक्ति इस संप्रदाय की विशेषता थी। लिंग का चिह्न इस संप्रदाय का सब से बड़ा चिह्न है। इस संप्रदाय के लोग अपने गले में शिवलिंग लटकाए रहते हैं जो चाँदी की डिबिया में रहता है, क्योंकि इनका विश्वास है कि शिव ने अपने तत्त्व को लिंग और अंग में विभक्त कर दिया था। विशिष्टाद्वैत से इस संप्रदाय की कुछ समानता है। यह संप्रदाय वैदिक मत से बहुत बातों में भिन्न है। यज्ञोपवीत संस्कार की जगह वहाँ दीक्षा संस्कार होता है। गायत्री मंत्र की जगह वे 'ॐ नमः शिवाय' कहते हैं और यज्ञोपवीत की जगह गले में लिंग लटकाते हैं।

दक्षिण में शैव-संप्रदाय का प्रचार—तामिल प्रदेश में भी शैव-संप्रदाय का बहुत प्रचार हुआ। ये शैव, जैनों और बौद्धों के शत्रु थे। इनके धार्मिक साहित्य के ग्यारह संग्रह हैं, जो भिन्न-भिन्न समय पर लिखे गए। सबसे अधिक प्रतिष्ठित लेखक तिरुज्ञानसंबंध हुआ, जिसकी मूर्ति तामिल प्रदेश के शैवमंदिरों में पूजा के लिए रखी जाती है। तामिल कवि और

दार्शनिक अपने ग्रंथ के प्रारंभ में उसी के नाम से मंगलाचरण करते हैं। कांचीपुर के शैवमंदिर के शिलालेख से छठी सदी में शैवधर्म के दक्षिण में प्रचार होने का पता लगता है। पल्लव-शासक राजसिंह ने, जो कि संभवतः ५५० ई० के आस-पास हुआ था, राजसिंहेश्वर का शिवमंदिर बनवाया। यह निश्चित है कि इनके दार्शनिक सिद्धांत भी अवश्य विकसित थे क्योंकि राजसिंह के शैव सिद्धांतों में निपुण होने का उल्लेख शिलालेख में मिलता है, परंतु वे क्या थे, यह मालूम नहीं हो सका[१]।

ब्रह्मा की मूर्ति—ब्रह्मा सृष्टि का उत्पादक, यज्ञों का प्रवर्तक और विष्णु का एक अवतार माना जाता है। ब्रह्मा की मूर्ति चतुर्मुख होती है, परंतु जो मूर्ति दीवार से लगी होती है, उसके तीन मुख ही दिखाए जाते हैं और परि-क्रमावाली मूर्ति के चारों मुख। ऐसी चतुर्मुख मूर्तियाँ थोड़ी ही देखने में आई हैं। ब्रह्मा के कई मंदिर अब तक विद्यमान हैं, जिनमें पूजन भी होता है। ब्रह्मा के एक हाथ में स्रुव होता है, जो यज्ञकर्ता का सूचक है। शिव-पार्वती के विवाह-सूचक मूर्ति-समुदाय में, जो कई एक मिले हैं, ब्रह्मा पुरोहित बताया गया है। आश्चर्य की बात यह है कि जैसे विष्णु और शिव के भिन्न-भिन्न संप्रदाय मिलते हैं, वैसे ब्रह्मा के संप्रदाय नहीं मिलते। मूर्ति-कल्पना में ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर तीनों एक ही परमात्मा के रूप माने गए हैं। ब्रह्मा की कई मूर्तियाँ ऐसी मिली हैं जिनके ऊपर के एक किनारे पर शिव और दूसरे पर विष्णु की छोटी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। ऐसे ही विष्णु की मूर्तियों पर शिव और ब्रह्मा और शिव की मूर्तियों पर ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियाँ मिलती हैं। इससे यह स्पष्ट पाया जाता है कि ये तीनों देवता एक ही परमात्मा या ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूप माने जाते थे। भक्तों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार चाहे जिसकी उपासना प्रचलित की। पीछे से इनकी स्त्रियों सहित मूर्तियाँ भी बनने लगीं और शिव-पार्वती की मूर्ति के अतिरिक्त शिव की 'अर्धनारीश्वर' मूर्ति भी मिलती है, जिसमें आधा शरीर शिव का और आधा शरीर पार्वती का होता है। ऐसे ही सम्मिलित मूर्तियाँ भी मिलती हैं।

---

[१] **सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स', पृ० ११५-१४२**

शिव और विष्णु की सम्मिलित मूर्ति को हरिहर और तीनों की सम्मिलित मूर्ति को हरिहर-पितामह कहते हैं।

त्रिदेव-पूजा—ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही मुख्य तीन देवता माने जाते थे। अठारह पुराण इन्हीं तीन देवताओं के संबंध में हैं। विष्णु, नारदीय, भागवत, गरुड़, पद्म और वराह पुराण विष्णु से; मत्स्य, कूर्म, लिंग, वायु, स्कंद और अग्नि पुराण शिव से; तथा ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन और ब्रह्म पुराण बहुधा ब्रह्मा से संबंध रखते हैं।

शक्ति-पूजा—केवल परमात्मा के भिन्न-भिन्न नामों को ही देवता मान कर उनकी पृथक्-पृथक् उपासना प्रारंभ नहीं हुई, किंतु ईश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियों और देवताओं की पत्नियों की भी कल्पना की जाकर उनकी पृथक्-पृथक् पूजा होने लगी। प्राचीन साहित्य को देखने से ऐसी देवियों के बहुत से नाम पाए जाते हैं। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही और ऐंद्री, इन सात शक्तियों को मातृका कहते हैं। कुछ भयंकर और रुद्र शक्तियों की कल्पना भी की गई, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—काली, कराली, कापाली, चामुंडा और चंडी। इनका संबंध कापालिकों और कालामुखों से है। कुछ ऐसी भी शक्तियों की कल्पना हुई, जो विषय-विलास की ओर ले जानेवाली है। इस प्रकार की देवियाँ आनंद-भैरवी, त्रिपुरसुंदरी और ललिता आदि है। उनके उपासकों के मंतव्य के अनुसार शिव और त्रिपुरसुंदरी के योग से ही संसार बना है। नागरी वर्णमाला के प्रथम अक्षर 'अ' से शिव और अंतिम अक्षर 'ह' से त्रिपुरसुंदरी अभिप्रेत है। इस तरह दोनों का योग 'अहं' कामकला का सूचक है[1]।

कौलमत—भैरवी-चक्र शाक्तों का एक मुख्य मंतव्य है। इसमें स्त्री के गुह्य भाग के चित्र की पूजा होती है। शाक्तों में दो भेद हैं, कौलिक और समयिन। कौलिकों में दो भेद हैं, प्राचीन कौलिक तो योनि के चित्र की और दूसरे वास्तविक योनि की पूजा करते हैं। पूजा के समय वे (कौलिक) मद्य, मांस, मीन आदि का भक्षण भी करते है। समयिन इन क्रियाओं से

---

[1] **सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, 'वैष्णविज़म शैविज़्म एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स', पृ० १४२-४६**

दूर रहते हैं। कुछ ब्राह्मण भी कौलिकों के सिद्धांत मानते थे। इस भैरवी-चक्र के समय वर्णभेद नहीं माना जाता[1]। नवीं शताब्दी के अंत के आस-पास होनेवाले कवि राजशेखर ने अपने 'कर्पूरमंजरी' नामक सट्टक में भैरवा-नंद के मुख से कौलमत का वर्णन इन शब्दों में कराया है—

मंताण तंताण ण किं पि जाणे झाणं च णो किं पि गुरुप्पसाओ।
मज्जं पिआमो महिलं रमामो मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गो ॥२२॥

अविअ—

रंडा चंडा दिक्खिआ धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोजं चम्मखंडं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्सणो भाइ रम्मो[2] ॥२३॥

अर्थ—हम मंत्र-तंत्रादि कुछ नहीं जानते, न गुरुकृपा से हमें कोई ज्ञान प्राप्त है। हम लोग मद्यपान और स्त्री-गमन करते हैं और कुलमार्ग का पालन करते हुए मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥२२॥

पुनश्च—

कुलटाओं को दीक्षित कर हम धर्मपत्नी बना लेते हैं। हम लोग मद्य पीते और मांस खाते हैं। भिक्षान्न ही हमारा भोजन और चर्मखंड शय्या है। ऐसा कौलधर्म किसे रमणीय प्रतीत नहीं होता? ॥२३॥

गणेश-पूजा—इन सब देवियों के अतिरिक्त गणेश की पूजा हमारे समय से भी पूर्व प्रारंभ हो चुकी थी। गणेश या विनायक, रुद्र के गणों का नेता था। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में गणेश और उसकी माता अंबिका की पूजा का वर्णन मिलता है। न तो चौथी शताब्दी से पूर्व की कोई गणपति की मूर्ति मिली और न उस समय के शिलालेखों में उसका उल्लेख मिलता है। इलोरा की गुफाओं में कतिपय देवियों की मूर्ति के साथ गणपति की मूर्ति बनी हुई है। ८६२ ई० के घटियाला के स्तंभ में श्रीगणेश की चार मूर्तियाँ बनी हैं। गणेश के मुख में सूँड की कल्पना न जाने कब आविष्कृत हुई है।

---

[1] सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, 'वैष्णविज़्म शैविज़्म एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स', पृ० १४६-४७

[2] 'कर्पूरमंजरी', प्रथम जवनिकांतर; हार्वर्ड संस्करण; पृ० २४-२५

इलोरा तथा घटियाले की मूर्तियों में सूँड बनी हुई है। 'मालतीमाधव' में भी गणेश की सूँड का वर्णन है। गाणपत्यों की भी कई शाखाएँ हो गईं। अन्य देवों की तरह आज तक गणपति की पूजा होती है[1]। महाराष्ट्र में गणपति-पूजा का उत्सव विशेष-रूप से मनाया जाता है।

स्कंद-पूजा—स्कंद या कार्तिकेय की पूजा भी प्राचीन समय में होती थी। स्कंद, शिव का पुत्र माना जाता था। रामायण में उसे गंगा का पुत्र बताया गया है। इसके विषय में कई अन्य दंतकथाएँ भी प्रचलित हैं। स्कंद देवताओं का सेनापति माना जाता है। पतंजलि ने महाभाष्य में शिव और स्कंद की मूर्तियों का उल्लेख किया है। कनिष्क के सिक्कों पर स्कंद महासेन आदि कुमार के नाम मिलते हैं। ४०४ ई० में ध्रुवशर्मा ने बिलसद में स्वामी महासेन के मंदिर में प्रतोली बनवाई थी। हेमाद्रि के व्रतखंड में स्कंद की पूजा का वर्णन मिलता है। यह पूजा आजतक प्रचलित है[2]।

सूर्य-पूजा—हमारे निर्दिष्ट समय में इन देवियों के अतिरिक्त सूर्य-पूजा भी बहुत अधिक प्रचलित थी। सूर्य ईश्वर का ही रूप माना जाता था। ऋग्वेद में सूर्य की उपासना का बहुत जगह उल्लेख है। ब्राह्मणों और गृह्यसूत्रों में भी इसका बहुत वर्णन है। सूर्य का देवों में विशेष स्थान था। बहुत से संस्कारों में भी इसकी पूजा होती थी। इसकी पूजा दिन के भिन्न-भिन्न भागों में उसके उत्पादक, संरक्षक, विनाशक आदि नामों से, बहुत प्रकार से, की जाती थी।

सूर्य की मूर्तियों की पूजा कब से भारत में प्रचलित हुई, यह कहना कठिन है। वराहमिहिर ने सूर्य की मूर्तियों की पूजा का मगों के द्वारा प्रचलित होने का उल्लेख किया है। सूर्य की मूर्ति द्विभुज होती है। दोनों हाथों में कमल, सिर पर किरीट, छाती पर कवच और पैरों में घुटने से कुछ नीचे तक लंबे बूट होते हैं। हिंदुओं में पूजी जानेवाली मूर्तियों में से सूर्य की मूर्ति ही

---

[1] **सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, 'वैष्णविज़्म शैविज़्म एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स', पृ० १४७-१५०**

[2] **वही, पृ० १५०-५१**

ऐसी है, जिसके पैरों में लंबे बूट मिलते हैं। संभव है, सूर्य की प्रथम मूर्ति शीतप्रधान ईरान से आई हो, जहाँ बूट पहनने का रिवाज था। भविष्यपुराण में लिखा है कि सूर्य के पैर खुले नहीं होने चाहिएँ। उसी पुराण में एक कथा है कि राजा सांब (कृष्ण और जांबवती के पुत्र) ने सूर्य की उपासना से नीरोग होने के कारण सूर्य की मूर्ति स्थापित करनी चाही, परंतु देवपूजा से प्राप्त होनेवाले द्रव्य से ब्रह्म-क्रिया नहीं होती, यह कहकर उस कार्य को ब्राह्मणों ने स्वीकार नहीं किया। तब राजा ने शाकद्वीप (ईरान का दक्षिण-पूर्वी भाग) से मग जाति के ब्राह्मणों को बुलाया[1]। ये लोग अपनी उत्पत्ति ब्राह्मण-कन्या और सूर्य से होना मानते थे और सूर्य की पूजा करते थे। अलबेरुनी लिखता है—"भारत के तमाम सूर्यमंदिरों के पुजारी ईरानी मग होते हैं।" राजपूताने में इनको सेवक और भोजक कहते हैं। सूर्य के हज़ारों मंदिर बने और अब तक सैकड़ों मंदिर विद्यमान हैं, जिनमें सब से विशाल और सारे प्राकार सहित संगमरमर का बना हुआ सिरोही राज्य के वरमाण गाँव में विद्यमान है। यह मंदिर प्राचीन है और इसके स्तंभों पर नवीं और दसवीं सदी के लेख खुदे हैं, जिनमें उस मंदिर को दिये हुए दानों का उल्लेख है। जैसे शिवमंदिर में वृषभ और विष्णुमंदिर में गरुड़ उनके वाहन होते हैं, वैसे सूर्यमंदिर में सूर्य के सामने चतुरस्र स्तंभ के ऊपर कीलीपर घूमता हुआ उसके वाहन-रूप एक कमलाकृति चक्र होता है। ऐसे चक्र आज भी कई मंदिरों में विद्यमान हैं। इस रथ को खींचनेवाले सात घोड़ोंकी कल्पनाकी गई है, इसीसे सूर्य को सप्ताश्व या सप्तसप्ति कहते हैं। कई मूर्तियों में सूर्य के नीचे सात घोड़े

---

[1] एवमुक्तस्तु सांबेन नारदः प्रत्युवाच तम्।
न द्विजाः परिगृह्णंति देवस्य स्वीकृतं धनम् ॥४॥. . .
देवचर्यागतैर्द्रव्यैः क्रिया ब्राह्मी न विद्यते ॥ ५ ॥. . . .
अग्राह्यं च द्विजातिभ्यः कस्मै देयमिदं मया ॥ २८ ॥. . . .
मगाय संप्रयच्छ त्वं पुरमेतच्छुभं विभोः ॥ २९ ॥. . .
तस्याधिकारो देवाग्रे देवतानां च पूजने ॥ ३० ॥. . .
भविष्यपुराण, ब्रह्मपर्व, अध्याय १३९

भी बने हुए हैं। एक सूर्यमंदिर के बाहर की तरफ़ सात घोड़ोंवाली सूर्य की कुछ ऐसी मूर्तियाँ भी हमने देखी हैं, जिनके नीचे का भाग बूट सहित सूर्य का और ऊपर का ब्रह्मा, विष्णु या शिव का है।

पाटण (झालरापाटन राज्य) के पद्मनाभ नामक विष्णुमंदिर के, जो अनुमानतः दसवीं शताब्दी का बना हुआ है, पीछे के ताक में ऐसी मूर्ति है, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और सूर्य तीनों का मिश्रण है, जैसा कि उनके भिन्न-भिन्न आयुधों से पाया जाता है।

सूर्य के विद्यमान मंदिरों में सबसे पुराना मंदसोर का सूर्य-मंदिर है, जो ई० स० ४३७ में बना था, जैसा कि उसके शिलालेख से जान पड़ता है। मुल्तान के सूर्य-मंदिर का उल्लेख हुएन्त्संग ने किया है। अरब यात्री अलबेरूनी ने भी इस मंदिर को ग्यारहवीं सदी में देखा था। हर्ष के एक ताम्रपत्र में उसके पूर्वज प्रभाकरवर्द्धन, राज्यवर्द्धन और आदित्यवर्द्धन के परमादित्यभक्त होने का उल्लेख है। सूर्य के पुत्र रेवंतकी भी घोड़े पर बैठी हुई मूर्तियाँ मिलती हैं। वह घोड़ों का अधिष्ठाता देवता माना जाता है और उस के पैरों में भी सूर्य के समान लंबे बूट देख पड़ते हैं [1]।

अन्य देवताओं की मूर्तियाँ—इसी तरह अष्ट दिक्पालों—इंद्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत, वरुण, मरुत्, कुबेर और ईश (शिव)—की भी मूर्तियाँ थीं। ये मूर्तियाँ मंदिरों में पूजी जाती थी और कई मंदिरों आदि पर अपनी-अपनी दिशाओं के क्रम से लगी हुई भी पाई जाती हैं। अष्ट दिक्पालों की कल्पना भी बहुत प्राचीन है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में धनपति (कुबेर) के मंदिर में मृदंग, शंख और तूणव (बंसी) के बजने का उल्लेख किया है [2]।

हिंदुओं में जब मूर्तियों की कल्पना का प्रवाह चल पड़ा, तब देवताओं की मूर्तियाँ तो क्या, ग्रह, नक्षत्र, प्रातः, मध्याह्न, सायं, आदि समयविभाग,

---

[1] **सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स', पृ० १५१-५५**

[2] **पाणिनि के सूत्र २।२।३४ पर पतंजलि का भाष्य।**

शस्त्रों, नदियों, कलि आदि युगों तक की मूर्तियाँ बना डाली गईं। पीछे से भिन्न-भिन्न देवताओं के उपासक हिंदुओं में भेदभाव या द्वेष नहीं रहा। ताम्रपत्रादि से पाया जाता है कि एक राजा परम वैष्णव था, तो उसके पुत्रादि परम माहेश्वर या भगवती के भक्त होते थे। अंत में हिंदुओं के पाँच--सूर्य, विष्णु, देवी, रुद्र और शिव--मुख्य उपास्य देवता रह गए, जिन्हें सामान्य रूप से पंचायतन कहते हैं। शिव, विष्णु आदि के ऐसे पंचायतन मंदिर भी मिलते हैं और घरों में भी पंचायतन पूजा होती है। जिस देवता का मंदिर होता है उसकी मूर्ति मध्य में और चारों कोनों में अन्य चार देवताओं की मूर्तियाँ होती हैं।

हिंदूधर्म के सामान्य अंग--हिंदूधर्म के इन सब संप्रदायों पर विचार करने के पश्चात् उसके कुछ सामान्य अंगों पर संक्षिप्त विचार आवश्यक है। हिंदुओं के प्रमाणभूत ग्रंथ वेद हैं। हमारे निर्दिष्ट काल में भी वेद पढ़े जाते थे, परंतु वेदों की वह प्रधानता वैसी न रही थी। अलबेरूनी लिखता है--"ब्राह्मण वेदों को अर्थ समझे ही विना कंठस्थ कर लेते हैं और बहुत थोड़े ब्राह्मण उसका अर्थ समझने की कोशिश करते हैं। ब्राह्मण क्षत्रियों को वेद पढ़ाते हैं, वैश्यों और शूद्रों को नही[1]। वैश्यों ने पहले बौद्ध होकर बहुधा वेदादि को पढ़ना छोड़ दिया था, तब से उनका संबंध वेदों से छूट गया। अलबेरूनी लिखता है कि वेद लिखे नहीं जाते थे, याद किए जाते थे। इस पद्धति से बहुत सा वैदिक साहित्य नष्ट हो गया[2]। वेदों की जगह पुराणों का प्रचार होता गया और पौराणिक संस्कारों का प्रचलन बढ़ता गया। श्राद्ध और तर्पण की प्रथा बहुत बढ़ गई। यज्ञों का प्रचार कम हो गया था और पौराणिक देवताओं की पूजा बढ गई थी, जिसका वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। अलबेरूनी ने कई मंदिरों की मूर्तियों का भी वर्णन किया है[3]।

---

[1] 'अलबेरूनीज़ इंडिया', साचू कृतअँगरेज़ी अनुवाद, जिल्द १,पृ० १२८

[2] वही, जिल्द १, पृ० १२५

[3] चि० वि० वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द ३, पृ० ४३४-३५

मंदिरों के साथ-साथ मठों की भी स्थापना आरंभ कर दी गई थी। इस संबंध में हिंदुओं ने बौद्धों का अनुकरण किया। सब संप्रदायों और उप-संप्रदायों के साधु और तपस्वी इन मठों में रहते थे। अनेक शिलालेखों में मंदिरों के साथ मठ, बाग और व्याख्यानशालाओं के होने का उल्लेख मिलता है। बहुत से संस्कारों का वर्णन 'याज्ञवल्क्यस्मृति' और उसकी मिताक्षरा टीका में है। बौद्धों की रथयात्रा का अनुकरण भी हिंदुओं ने कर लिया। इन सब परिवर्तनों के होने का यह आवश्यक परिणाम था कि धार्मिक साहित्य में भी परिवर्तन हो। इस काल में कई नई स्मृतियाँ बनीं, जिनमें तत्कालीन रीति-रिवाजों का उल्लेख है। पुराणों के नए संस्करण होकर उनमें बौद्धों और जैनों से मिलती हुई बहुत सी बातें दर्ज की गई। व्रतों का प्रचार भी बहुत बढ़ा। कई देवताओं के नाम से विशेष व्रत किये जाते थे। पुण्य-बुद्धि से व्रत और उपवासों की प्रथा हिंदुओं ने बौद्धों और जैनों से ली। एकादशी, जन्माष्टमी, देवशयनी, दुर्गाष्टमी, ऋषिपंचमी, देवप्रबोधिनी, गौरीतृतीया, वसंतपंचमी, अक्षयतृतीया आदि त्योहारों पर व्रत रखने का अलबेरूनी ने उल्लेख किया है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसने रामनवमी का उल्लेख नहीं किया। संभवतः उस समय पंजाब में रामनवमी का प्रचार न था। इसी तरह अलबेरूनी ने कई धार्मिक त्यौहारों का भी वर्णन किया है। कई त्यौहार तो विशेषतः स्त्रियों के लिए होते थे[1]।

हिंदू समाज के धार्मिक जीवन में प्रायश्चित्तों का भी विशेष स्थान था। साधारण सामाजिक नियमों को भी धर्म का रूप देकर उनके पालन न करने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया था। हमारे निर्दिष्ट काल में जो स्मृतियाँ बनीं, उनमें प्रायश्चित्तों को मुख्य स्थान दिया गया। अंत्यजों के साथ खाने, अशुद्ध जल पीने, निषिद्ध और अपवित्र भोजन करने, रज-स्वला और अंत्यजों के स्पर्श, उष्ट्री के दूध पीने, शूद्र, स्त्री, गौ, क्षत्रिय और ब्राह्मण की हत्या, श्राद्ध में मांस देने पर न खाने, समुद्र-यात्रा करने, जबर्दस्ती दास बनाने, स्त्रियों के बलपूर्वक म्लेच्छों द्वारा छीने जाने पर फिर शुद्ध न

---

[1] **चि० वि० वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द ३, पृ० ४३९-४६**

करने, व्यभिचार, सुरापान, गोमांस-भक्षण, अपवित्र वस्तु के स्पर्श, शिखाच्छेदन, यज्ञोपवीत के बिना भोजन करने आदि बातों पर चांद्रायण, कृच्छ्र आदि भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्तों का विधान है। अस्पृश्यता आदि बातें हमारे समय के पिछले काल में प्रचलित हुईं। इनसे हिंदूधर्म में संकीर्णता ने बहुत प्रवेश कर लिया और यह संकीर्णता शनैः-शनैः बढ़ती गई।

कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य

कुमारिल भट्ट और उसके सिद्धांत—हमारे निर्दिष्ट समय के भारत के धार्मिक इतिहास में कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य का विशेष स्थान है। हम पहले कह चुके हैं कि बौद्धों और जैनियों ने ईश्वर के अस्तित्व और वेदों में ईश्वरीय ज्ञान होने को स्वीकृत नहीं किया था। इससे साधारण जनता में ईश्वर और वेद के प्रति श्रद्धा उठती जाती थी। ये ही दोनों हिंदू-धर्म के प्रधानभूत अंग हैं। इनके नष्ट होने से हिंदूधर्म भी नष्ट हो जाता। बौद्धधर्म का जब प्रचार कम हो रहा था और हिंदूधर्म का प्रचार पीछे तेज़ी से बढ़ रहा था, उस समय (सातवीं सदी के अंतिम भाग में) कुमारिल भट्ट उत्पन्न हुआ। उसके निवास-स्थान के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कोई विद्वान् उसे दक्षिणी मानते हैं और कोई उसे उत्तरी भारत का निवासी। हम इस विवाद में उतरना नहीं चाहते। उसने वेदों के प्रचार के लिए बहुत प्रयत्न किया और यह बतलाया कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं। उस समय की अहिंसा की लहर के विरुद्ध कर्मकांड को भी पुनरुज्जीवित करने का उसने यत्न किया। यज्ञों में पशुहिंसा की भी उसने पुष्टि की। कर्मठ के लिए यज्ञ और उसमें पशुहिंसा आवश्यक थी। वह बौद्ध भिक्षुओं के वैराग्यवाद—संन्यासाश्रम—के भी विरुद्ध था। उस समय की प्रतिकूल अवस्थाओं में भी कुमारिल ने अपने सिद्धांतों का बहुत प्रचार कर लिया, यद्यपि उसे इसमें बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उस समय अहिंसा और वैराग्य का प्रचार था; ब्राह्मण भी प्राचीन अग्निहोत्र और यज्ञों को छोड़कर पौराणिक देवीदेवताओं का प्रचार कर रहे थे। ऐसी अवस्थाओं

में उसके सिद्धांत अधिक लोकप्रिय न हो सके, इस लिए उसके द्वारा वेदों का प्रचार व्यापक रूप से न हो सका[1]।

शंकराचार्य और उनके सिद्धांत--कुमारिल के कुछ समय बाद शंकराचार्य केरल प्रांत के कालपी गाँव में, ७८८ ई० में, उत्पन्न हुए। उन्होंने बहुत छोटी अवस्था में ही प्रायः सब ग्रंथ पढ़ लिए और वे एक बड़े भारी दार्शनिक विद्वान् बन गए। बौद्धों और जैनों के नास्तिकवाद को वे नष्ट करना चाहते थे, परंतु साथ ही यह जानते थे कि कुमारिल भट्ट की तरह बहुत सी बातों में जनता के विरुद्ध होने से कुछ नहीं हो सकता। उन्होंने ज्ञानकांड का और अहिंसा के सिद्धांतों का आश्रय लेते हुए वेदों का प्रचार किया और संन्यास-मार्ग को ही अधिक प्रधानता दी। ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार करते हुए उन्होंने देवी-देवताओं की पूजा का विरोध भी नहीं किया। उनके मायावाद और अद्वैतवाद के कारण, जो बौद्धों के विज्ञानवाद से विशेष भिन्न नही थे, बौद्ध भी उनकी ओर आकर्षित हुए। इसी लिए वे "प्रच्छन्न बौद्ध" कहलाते हैं। उन्होंने उपर्युक्त मंतव्यों को मानकर वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने का बहुत वेग से प्रचार किया।

उनके दार्शनिक विचारों तथा कार्य का वर्णन हम दर्शन के प्रकरण में करेंगे। वे अपने विचारों और सिद्धांतों का प्रचार प्रायः संपूर्ण भारतवर्ष में घूम-घूम कर करते रहे और भिन्न-भिन्न मतावलंबियों से बहुत शास्त्रार्थ कर उन्होंने उन्हें परास्त किया। उन्होंने सोचा कि अपने सिद्धांतों का स्थायी रूप से प्रचार करने के लिए स्थिर संस्थाओं की आवश्यकता है, इस लिए भारतवर्ष की चारों दिशाओं में उन्होंने एक एक मठ स्थापित किया। सबसे मुख्य मठ दक्षिण में शृंगेरी स्थान में, पश्चिम में द्वारिका में, पूर्व की तरफ़ पुरी में और उत्तर की ओर बदरिकाश्रम में हैं। ये मठ अब तक चले आ रहे हैं। उनके प्रयत्नों से बौद्धों का बहुत ह्रास हुआ। ३२ वर्ष की अवस्था में ही शंकराचार्य का बदरिकाश्रम में देहांत हुआ। इतनी छोटी अवस्था में भी उन्होंने इतना बड़ा कार्य कर

---

[1] **चि०वि० वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द २, पृ० २०६-१२**

दिखाया कि हिंदुओं ने उनको जगद्‌गुरु की उपाधि देकर सम्मानित किया।[1]

धार्मिक स्थिति का सिंहावलोकन

तीनों मुख्य-मुख्य धर्मों का विवेचन करने के अनंतर उस समय की धार्मिक स्थिति का सिंहावलोकन करना अनुचित न होगा। यद्यपि हमारे निर्दिष्ट काल में भिन्न-भिन्न धर्म विद्यमान थे और उनमें कभी-कभी संघर्ष भी होता रहा, तो भी धार्मिक असहिष्णुता का भाव नहीं पाया जाता। हिंदूधर्म की विभिन्न शाखाओं में परस्पर भिन्नता होते हुए भी हमें उनमें एकता की एक लहर दीख पड़ती है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव के पूजकों में परस्पर एकता के परिणाम-स्वरूप ही पंचायतन पूजा प्रचलित हुई। विष्णु, शिव, रुद्र, देवी और सूर्य सभी देवता एक ही ईश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियों के सूचक प्रतिनिधि माने गए, जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं। इससे सब संप्रदायों में एकता के भाव उत्पन्न हो गए। प्रत्येक मनुष्य अपने इच्छानुसार किसी भी देवता का उपासक हो सकता था। कन्नौज के प्रतिहार राजाओं में यदि एक वैष्णव था, तो दूसरा परम शैव और तीसरा भगवती का उपासक, तो चौथा परम आदित्य-भक्त। यह धार्मिक सहिष्णुता केवल हिंदूधर्म तक ही परिमित न थी, बल्कि बौद्ध और ब्राह्मणधर्म में भी परस्पर सहिष्णुता आ चुकी थी। कन्नौज के गाहड़वालवंशी परमशैव गोविंदचंद्र ने दो बौद्ध भिक्षुओं को विहार के लिए छः गाँव दिए थे। बौद्ध राजा मदनपाल ने अपनी स्त्री को महाभारत सुनानेवाले ब्राह्मण को एक गाँव दिया था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हमारे समय में हिंदू और बौद्धों में पहले का वैमनस्य नष्ट होकर उनमें परस्पर विवाह भी होने लग गए थे। परमशैव गोविंदचंद्र की स्त्री बौद्ध थी। जैन और हिंदू भी परस्पर विवाह-संबंध करते थे, जो आज तक भी थोड़ा बहुत प्रचलित है। ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं कि पिता बौद्ध है तो पुत्र वैष्णव और पिता हिंदू है तो पुत्र बौद्ध। दोनों धर्म इतने समीप आ गए थे और उनमें परस्पर इतनी समानताएँ हो

---

[1] चि० वि० वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द २, पृ० १३-१७

गई थीं कि उनकी दंतकथाओं में भेद करना भी कठिन हो गया। जैनियों और बौद्धों के प्रवर्तक भी हिंदुओं के अवतार माने गए। जैनियों, बौद्धों और हिंदुओं के धर्मो में २४ तीर्थंकरों, २४ बुद्धों और २४ अवतारों की कल्पना में बहुत समानता है। हमारे निर्दिष्ट समय में यद्यपि तीनों धर्म प्रचलित थे, परंतु ब्राह्मणधर्म की सबसे अधिक प्रधानता थी। बौद्धधर्म तो मृतप्राय हो चुका था। जैनधर्म बहुत परिमित क्षेत्र में रह गया था। हिंदू-धर्म में भी शैवमत का प्रचार अधिक बढ़ रहा था। पिछले समय में बहुत से राजा शैव ही थे।

भारत में इस्लाम का प्रवेश—तत्कालीन धार्मिक स्थिति का हमारा अवलोकन तब तक अपूर्ण ही रहेगा, जब तक हम भारतवर्ष में नए प्रविष्ट होनेवाले इस्लामधर्म पर दो चार शब्द न कहें। यद्यपि मुहम्मद क़ासिम से पहले भी मुसलमानों की कुछ चढ़ाइयाँ भारत की तरफ़ हुई थी, परंतु इनका यहाँ पाद-प्रवेश नहीं हुआ। आठवीं सदी में सिंध पर मुसलमानों के अधिकार होने के साथ वहाँ इस्लाम का प्रवेश होने लगा। उसके बहुत समय बाद ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में मुसलमान भारत में आए। जहाँ मुसलमान विजेताओं की तलवार ने इस्लाम फैलाने का काम किया वहाँ हिंदू राजाओं की उदारता भी उसकेफैलने में सहायक हुई। राष्ट्रकूट और सोलंकी राजाओं ने भी मस्जिद आदि बनवाने में मुसलमानों को सहायता दी। थाना के शिलारावंशी राजाओं ने पारसियों और मुसल-मानों को पर्याप्त सहायता दी थी। मुसलमान अपने साथ नवीन भाषा, नवीन धर्म और नवीन सभ्यता को भारत में लाए [1]।

सामाजिक स्थिति

वर्णव्यवस्था—प्राचीन भारतीयों के सामाजिक जीवन की सबसे मुख्य संस्था वर्णव्यवस्था है। इसी की भित्ति पर हिंदू समाज का भवन खड़ा है, जो अत्यंत प्राचीन काल से अनंत बाधाओं का सामना करते हुए भी अब

---

[1] **चि० वि० वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द ३, पृ० ४२९-३०**

तक न टूट सका। हमारे निर्दिष्ट समय से बहुत पूर्व इस संस्था का विकास हो चुका था। वर्णव्यवस्था का उल्लेख यजुर्वेद तक में मिलता है।

यद्यपि बौद्ध और जैनधर्म ने वर्णाश्रम-व्यवस्था का विरोध कर इसको बहुत धक्का पहुँचाने का प्रयत्न किया, तथापि यह व्यवस्था नष्ट नहीं की जा सकी और हिंदूधर्म के पुनरभ्युदय के साथ-साथ इस संस्था की भी फिर उन्नति हुई। हमारे निर्दिष्ट समय में यह व्यवस्था बहुत अच्छी तरह प्रचलित थी। हुएन्त्संग चारों वर्णो का उल्लेख करता है[1]। बौद्ध भिक्षुओं और जैन साधुओं का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। अब हम क्रमशः समाज के सब विभागों पर संक्षेप से विचार करेंगे।

ब्राह्मण और उनके कर्त्तव्य---ब्राह्मणों का समाज में सबसे अधिक सम्मान था। शिक्षा और विद्या में ये ही सब से बढ़े-चढ़े थे। सब वर्ण इनकी प्रधानता मानते थे। बहुत से कार्य प्रायः ब्राह्मणों के लिए ही सुरक्षित रहते थे। वे शासन-कार्य में भी पर्याप्त भाग लेते थे। प्रायः मंत्री तो ब्राह्मण ही होते थे और कभी-कभी वे सेनापति भी बनते थे। अबुजैद उनके विषय में लिखता है---"धर्म और विज्ञान में प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति ब्राह्मण कहलाते हैं। उनमें से बहुत से कवि, ज्योतिषी, दार्शनिक और दैवज्ञ राजा के दरबार में रहते हैं[2]।" इसी तरह अल् मसऊदी उनके विषय में लिखता है कि ब्राह्मणों का उत्तम और श्रेष्ठ कुल की तरह सम्मान होता है। प्रायः ब्राह्मण ही कुल-क्रम से राजाओं के मंत्री आदि होते हैं[3]।

ब्राह्मणों के मुख्य कर्त्तव्य पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना और कराना, तथा दान देना और लेना था। बौद्धधर्म के प्रचार के समय वर्णव्यवस्था के शिथिल होने के कारण ब्राह्मणों के हाथ के उपयुक्त कार्यो में से कई चले गए थे। यज्ञादि के बंद होने से बहुत से ब्राह्मणों की आजीविका नष्ट हो गई थी, इसलिए ब्राह्मण अन्य वर्णों के कार्य भी करने लगे। इसी के अनुसार

---

[1] **वाटर्स, 'युवनच्वांग', जिल्द १, पृ० १६८**

[2] **इलियट, 'हिस्ट्री आफ़ इंडिया', जिल्द १, पृ० ६**

[3] **चि० वि० वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द २, पृ० १८१**

नई स्मृतियाँ भी बनीं। वे लोग क्षत्रिय और वैश्य का भी काम करने लगे। बौद्धमत के अनुसार कृषि पाप होने के कारण बहुत से वैश्यों ने बौद्ध होकर कृषि छोड़ दी। यह अवसर देखकर बहुत से ब्राह्मण कृषि पर गुज़ारा करने लगे। पराशरस्मृति में सब वर्णों को कृषि करने की आज्ञा दी गई है[1]। इसके अतिरिक्त उस समय के अनुकूल सब वर्णों को शस्त्र ग्रहण करने का अधिकार भी दिया गया[2]। इतना ही नहीं, उस समय ब्राह्मण शिल्प, व्यापार और दूकानदारी भी करते थे, परंतु ऐसा करते हुए भी वे अपने सम्मान का पूरा ख़याल रखते थे। वह नमक, तिल (यदि वह अपने परिश्रम से बोया न गया हो), दूध, शहद, शराब और मांस आदि पदार्थ नहीं बेचते थे। इसी तरह ब्राह्मण सूद-वृत्ति को भी घृणित कार्य समझकर नहीं करते थे। उनके आचार-व्यवहार में शुद्धि की बहुत मात्रा थी। उनका भोजन आदि भी अन्य वर्णो की अपेक्षा अधिक शुद्ध तथा सात्विक होता था, जिसका वर्णन हम आगे भोजन के प्रकरण में करेंगे। उनमें धार्मिकता और आध्यात्मिकता का विचार बहुत था और वे अपने को अन्य वर्णों से पृथक् और ऊँचा रखने का प्रयत्न करते थे। अन्य वर्णों पर उनका प्रभाव बहुत समय तक बना रहा। राजनियमों में भी उन्हें बहुत रियायत दी जाती थी, वस्तुतः उस समय वर्णों का प्राचीन कर्तव्य-विभाग बहुत शिथिल हो रहा था और सभी वर्ण अपने अपने इच्छानुसार काम करने लग गए थे। पीछे से राजा योग्य व्यक्तियों को ऊँचे पदों पर नियत करने लगे थे, चाहे वे किसी वर्ण के ही क्यों न हों[3]।

ब्राह्मणों की उपजातियाँ—अपने निर्दिष्ट समय के प्रारंभ में हम हिंदू समाज को केवल चार वर्णों और कुछ नीची जातियों में बँटा हुआ पाते हैं।

---

[1] **षट्कर्मसहितो विप्रः कृषिकर्म च कारयेत् ॥२॥**
क्षत्रियोपि कृषिं कृत्वा देवान् विप्रांश्च पूजयेत् ॥१८॥
वैश्यः शूद्रस्तथाकुर्यात् कृषिवाणिज्यशिल्पकम् ॥१९॥

अध्याय २

[2] **प्राणत्राणे वर्णसंकरे वा ब्राह्मणवैश्यौ शस्त्रमाददीयाताम्।**

वसिष्ठस्मृति, अ० ३

[3] **चि० वि० वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द २, पृ० १८१-८२**

ग्यारहवीं सदी के प्रसिद्ध अलबेरूनी ने भी चार वर्णों का ही उल्लेख किया है।[1] परंतु हमें शिलालेखों से पता लगता है कि उस समय वर्णों में उपजातियाँ बनने लग गई थीं। अलबेरूनी ने जो कुछ लिखा है वह समाज की तत्कालीन स्थिति को ही देखकर नहीं, किंतु उसने जो कुछ पुस्तकों से पढ़ा था, वह भी स्थल-स्थल पर लिख दिया है, जिससे उसकी पुस्तक तात्कालिक स्थिति का सच्चा परिचय नहीं देती।

ब्राह्मण ६०० ई० से १००० ई० तक भिन्न-भिन्न जातियों में बँटे हुए मालूम नहीं होते। उस समय तक ब्राह्मणों का भेद शाखा और गोत्र का उल्लेख करके ही किया जाता था, जैसा कि १०५० ई० के चंदेलों के ताम्र-पत्र में भारद्वाज गोत्र, यजुर्वेदीय शाखा के विप्रवर ब्राह्मण का उल्लेख है। १०७७ ई० के कलचुरी लेख में, जो गोरखपुर ज़िले के कहन नामक स्थान से प्राप्त हुआ, ब्राह्मणों के नामों के साथ शाखा गोत्रादि के अतिरिक्त उनके निकास के ग्रामों का नामोल्लेख है। इसी तरह कई अन्य शिलालेखों में ब्राह्मणों के वासस्थान का ही उल्लेख मिलता है। बड़नगर की कुमारपाल-प्रशस्ति (११५१ ई०) में नागर ब्राह्मण का उल्लेख है, कोंकण के बारहवीं सदी के लेख में ३२ ब्राह्मणों के नाम दिए हैं, जिनके गोत्र तो हैं शाखा नहीं, परंतु उनमें ब्राह्मणों के उपनाम भी साथ दिए हैं, जो उनके पेशे या स्थानों या अन्य विशेषताओं के कारण बने हुए प्रतीत होते हैं। बारहवीं शताब्दी में ऐसे उपनामों का बहुत प्रयोग होने लगा था, जिनमें से कुछ नाम ये हैं—दीक्षित, राउत, ठाकुर, पाठक, उपाध्याय और पट्टवर्धन आदि। इस समय तक भी गोत्र और प्रवर प्रचलित थे, परंतु इन उपनामों की प्रधानता बढ़ती जाती थी। शिलालेखों में हम पंडित, दीक्षित, द्विवेदी, चतुर्वेदी, आवस्थिक, माथुर, त्रिपुर, अकोला, डेंडवाण आदि नाम पाते हैं, जो स्पष्ट ही उनके कार्य और वासस्थान से निकले हुए प्रतीत होते हैं। पीछे से इनमें से कितने एक उपनाम भिन्न-भिन्न जातियों में परिणत हो गए। यह जाति-भेद क्रमशः बढ़ता गया। इसके बढ़ने में दो तीन अन्य कारणों ने

---

[1] 'अलबेरूनीज़ इंडिया', साचू-कृत अँगरेज़ी अनुवाद; जिल्द १, पृ०१००-१

भी बहुत कुछ सहायता दी, जैसे कि भोजन में भेद हो जाना। मांसाहारी और शाकाहारी होने से भी दो बड़े भेद हो गए। भिन्न-भिन्न रीति-रिवाजों और विचारों के कारण कई भेद पैदा हो गए। दार्शनिक विचारों में मत-भेद हो जाने के कारण भी भेद बढ़े। इन्हीं कारणों से जाति-भेद बढ़ते-बढ़ते आज सैकड़ों जातियाँ हो गईं। हमारे समय तक ब्राह्मण पंचगौड़ और पंचद्रविड़ दो मुख्य शाखाओं में नहीं बँटे थे। यह भेद १२०० के बाद हुआ, जो संभवतः मांसाहार और अन्नाहार के कारण हुआ हो [१]। ग्यारहवीं सदी में गुजरात के सोलंकी राजा मूलराज ने सिद्धपुर में रुद्रमहालय नामक विशाल शिवालय बनवाया, जिसकी प्रतिष्ठा के समय कन्नौज, कुरुक्षेत्र आदि उत्तरीय प्रदेशों से एक हज़ार ब्राह्मणों को बुलाया और गाँव आदि देकर उन्हें वहीं रखा। उत्तर से आने के कारण वे 'औदीच्य' कहलाए और गुजरात में बसने के कारण पीछे से उनकी संज्ञा भी द्रविड़ों में हो गई, जिनकी गणना वास्तव में गौड़ों में होनी चाहिए थी।[२]

अब हम क्षत्रियों के संबंध में कुछ विवेचन करते हैं।

क्षत्रिय और उनके कर्त्तव्य—ब्राह्मणों की तरह क्षत्रियों का भी समाज में बहुत ऊँचा स्थान था। इनके मुख्य कर्तव्य प्रजा-पालन, दान, यज्ञ, अध्ययन आदि थे। राज्य के शासक, सेनापति और योद्धा प्रायः ये ही होते थे। ब्राह्मणों के साथ अधिक रहने से क्षत्रिय लोगों—विशेषतः राजकीय वर्ग—में शिक्षा का प्रचार बहुत अच्छा था। बहुत से राजा बड़े-बड़े विद्वान् हुए हैं। हर्षवर्धन साहित्य का अच्छा विद्वान् था। पूर्वीय चालुक्य राजा विनयादित्य गणित का बड़ा पंडित था, जिससे उसे गुणक कहते थे। राजा भोज की विद्वत्ता लोकप्रसिद्ध है। उसने वास्तुविद्या, व्याकरण, अलंकार, योगशास्त्र और ज्योतिष आदि विषयों पर कई उपयोगी और विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ लिखे। चौहान विग्रहराज (चतुर्थ) का लिखा हुआ 'हरकेलिनाटक' आज शिलाओं पर खुदा हुआ उपलब्ध है। इसी तरह कई अन्य राजाओं

---

[१] **चि० वि० वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द ३, पृ० ३७५-८१**

[२] **मेरा 'राजपूताने का इतिहास', जिल्द १, पृ० २१५**

के भी ग्रंथ मिलते हैं। वर्णव्यवस्था के विशुद्ध रूप में क़ायम न रहने तथा बहुत से क्षत्रियों के पास भूमि न रहने के कारण वे बेकार हो गए और उन्होंने भी ब्राह्मणों की तरह अन्य पेशे इख़्तियार करने शुरू किए। इसका एक परिमाण यह हुआ कि क्षत्रिय दो श्रेणियों में बँट गए। एक तो वे क्षत्रिय जो अब भी अपने कार्य करते थे और दूसरे वे जिन्होंने कृषि आदि दूसरे पेशे शुरू कर दिए थे। इब्न ख़ुरदाद ने भारत में जो सात श्रेणियाँ बताई हैं, उनमें से सबकुट्रिय और कटरिय संभवतः ये ही दोनों श्रेणियाँ हैं[1]।

क्षत्रिय लोग भी शुरू में बहुधा मद्य नहीं पीते थे। अल् मसऊदी लिखता है कि यदि कोई राजा शराब पी ले, तो वह शासन करने के योग्य नहीं समझा जाता[2]।

हुएन्त्संग के समय तक क्षत्रिय भी ब्राह्मणों की तरह जीवन में बहुत उन्नत थे। वह लिखता है—'ब्राह्मण और क्षत्रिय बहुत शुद्ध, बाह्याडंबरों से दूर, जीवन में सरल और पवित्र तथा मितव्ययी होते हैं।'

प्रारंभ में क्षत्रिय भी अधिक वंशों में बँटे हुए नहीं थे। महाभारत और रामायण में सूर्य और चंद्रवंशियों का वर्णन आता है और वह वंश-भेद समय के साथ-साथ बढ़ता गया। 'राजतरंगिणी' में ३६ वंशों का उल्लेख है। अब तक भी क्षत्रिय वर्ण ऐसा रहा है, जिसमें जाति-भेद नहीं है।

वैश्य और उनका कर्त्तव्य—वैश्यों के मुख्य कार्य पशु-पालन, दान, यज्ञ, अध्ययन, वाणिज्य, कुसीद (व्याज-वृत्ति) और कृषि थे। बौद्धकाल में वर्णव्यवस्था शिथिल होने से उसका रूपांतर हो गया। बौद्धों और जैनियों के मतानुसार कृषि करना पाप माना गया, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं। इसके अनुसार वैश्य लोगों ने सातवीं सदी के प्रारंभ में ही कृषि को नीच-कार्य समझकर छोड़ दिया था। हुएन्त्संग वैश्यों के विषय में लिखता है कि तीसरा वर्ण वैश्यों या व्यापारियों का है, जो पदार्थों का विनिमय करके लाभ उठाता है। चौथा वर्ग शूद्रों या कृषकों का है[3]।

---

[1] चि०वि०वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द २, पृ० १७९-८०

[2] इलियट, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया; जिल्द १, पृ० २०

[3] वाटर्स आन युवनच्वांग, जिल्द १, पृ० १६८

वैश्यों ने भी कृषिकार्य छोड़कर दूसरे पेशे इख्तियार करने शुरू किए। वैश्यों के राजकार्य करने, राजमंत्री होने, सेनापति बनने और युद्धों में लड़ने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। हमारे समय के अंतिम भाग में उनमें जाति-भेद उत्पन्न होने लगा, ऐसा शिलालेखों से पाया जाता है।

शूद्र---सेवा करनेवाले वर्ग का नाम शूद्र था। वह वर्ण अस्पृश्य नहीं था; ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की तरह शूद्रों को भी पंच-महायज्ञ करने का अधिकार था। ऐसा पतंजलि-कृत महाभाष्य और उसके टीकाकार कैयट की (जो भर्तृहरि के पीछे हुआ) टीका---'महाभाष्यप्रदीप'---से जान पड़ता है[1]।

शनैः-शनैः इनके काम भी बढ़ते गए। इसका मुख्य कारण यह हुआ कि हिंदू समाज में बहुत से कार्यों, कृषि, दस्तकारी, कारीगरी आदि का करना तुच्छ समझा जाने लगा और वैश्यों ने शिल्प का कार्य भी छोड़ दिया। इसलिए हाथ के सब काम शूद्रों ने ले लिए। शूद्र ही किसान, लोहार, राज, रँगरेज़, धोबी, तक्षक, जुलाहे, कुम्हार आदि हो गए। हमारे निर्दिष्ट समय में ही भिन्न-भिन्न पेशों के अनुसार शूद्रों की बहुत जातियाँ बन गईं। किसान तो शूद्र ही कहलाए परंतु दूसरे पेशेवाले, भिन्न-भिन्न जातियों में बँट गए एन्त्संग लिखता है---बहुत से ऐसे वर्ग हैं, जो अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में से कोई भी नहीं मानते। अलबेरूनी लिखता है---शूद्रों के बाद अंत्यजों का नंबर आता है, जो भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवा करते हैं और जो चारों वर्णों में नहीं गिने जाते। ये अंत्यज आठ श्रेणियों (गिल्ड्स) में विभक्त हैं---धोबी, चमार, मदारी, टोकरी और ढाल बनानेवाले, मल्लाह, धीवर, जंगली पशुओं और पक्षियों का शिकार करनेवाले तथा जुलाहे। चारों

---

[1] शूद्राणामनिरवसितानाम् २।४।१०।। इस सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने लिखा है कि एवं तर्हि यज्ञात्कर्मणोऽनिरवसितानाम्। अर्थात् जो शूद्र यज्ञ कर्म से बहिष्कृत न हों, वे अवहिष्कृत समझे जावें। इसकी टीका करते हुए कैयट ने लिखा है---शूद्राणां पंचयज्ञानुष्ठानेऽधिकारोस्तीतिभावः। शूद्रोऽपि द्विविधो ज्ञेयः श्राद्धी चैवेतरस्तथा ।।१०।।

विष्णुस्मृति, अ० ५

वणवाल इनक साथ नहा रहत। शहरा आर गावा क पास य लाग चारा वर्णों से अलग रहते हैं [1]। ज्यों-ज्यों समय गुज़रता गया, शूद्रों के अशिक्षित होने से इनका पाँच यज्ञों का अनुष्ठान भी छूटता गया।

कायस्थ—इन वर्णों के अतिरिक्त हिंदू समाज में दो-एक अन्य विभाग भी थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जो लोग लेखक अर्थात् अहल्कारी का काम करते थे वे कायस्थ कहलाते थे। पहले कायस्थों का कोई अलग भेद नहीं था। कायस्थ अहल्कार का ही पर्याय शब्द है, जैसा कि आठवीं सदी के कोटा के पास के कणसवा के एक शिलालेख से पाया जाता है। ये लोग राजकार्य में भी भाग लेते थे, क्योंकि सरकारी दफ़्तरों में नियत होने के कारण इन्हें बहुत सी गुप्त राजकीय बातें मालूम हो जाती थीं। ये लोग राजकीय षड्यंत्रों और कूटनीतियों में भी भाग लेते थे, इसीलिए याज्ञवल्क्यस्मृति में राजाओं को विशेषकर इनसे प्रजा की रक्षा करने का आदेश दिया है।

पीछे से अन्य पेशेवालों के समान इनकी भी एक जाति बन गई, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का मिश्रण है। सूरजधज कायस्थ अपने को शाकद्वीपी (मग) ब्राह्मण बतलाते हैं और वालभ कायस्थ क्षत्रिय जाति के हैं, जैसा कि सोड्ढल रचित 'उदयसुंदरीकथा' से पाया जाता है।

अंत्यज—भारत में अस्पृश्य जातियाँ केवल दो ही—चांडाल और मृतप—थीं। चांडाल शहर के बाहर रहते थे, शहर में आते समय वे बाँस की लकड़ी को जमीन पर पीटते रहते थे और जंगलों में से पशु-पक्षियों को मारकर उनके मांस के विक्रय से अपना निर्वाह करते थे। मृतप श्मशानों की चौकी करते और शवों के कफ़न आदि लेते थे।

वर्णों का परस्पर-संबंध—हिंदू समाज के इन भिन्न-भिन्न विभागों के संक्षिप्त वर्णन के बाद इन सब वर्णों के पारस्परिक संबंध पर कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इन चारों वर्णों में संबंध अच्छा था और परस्पर विवाह संबंध होते थे। सवर्ण विवाह श्रेष्ठ होने पर भी अन्य वर्णों से विवाह करना धर्मशास्त्र के प्रतिकूल न था। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या

---

[1] **'अलबेरूनीज़ इंडिया', जिल्द १, पृ० १०१**

से भी ब्राह्मण विवाह कर सकता था। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण के लिए शूद्र-कन्या से विवाह का निषेध किया था, परंतु हमारे निर्दिष्ट समय तक यह भी विद्यमान था। बाण ने शूद्र स्त्री से पैदा हुए ब्राह्मण के पुत्र पारशव का उल्लेख किया है। इसी तरह मंडोर के प्रतिहारों के वि० सं० ८९४ (ई० स० ८३७) और ९१८ (ई० स० ८६१) के लेखों में ब्राह्मण हरिश्चंद्र का क्षत्रिय-कन्या भद्रा से विवाह होने का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण कवि राजशेखर ने भी चौहान कन्या अवंतिसुंदरी से विवाह किया था। दक्षिण में भी क्षत्रियों की स्त्री से ब्राह्मणों के विवाह होने के उदाहरण मिलते हैं। गुलवाड़ा गाँव के पास की बौद्ध गुफा के एक लेख में वल्लूर-वंशीय ब्राह्मण सोम का ब्राह्मण और क्षत्रिय कन्याओं से विवाह होने का वर्णन मिलता है[१]। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की कन्या से विवाह कर सकता था, परंतु ब्राह्मण की कन्या से नहीं। दंडी-कृत 'दशकुमारचरित' से पाया जाता है कि पाटलिपुत्र के वैश्रवण की पुत्री सागरदत्ता का विवाह कोसल के राजा कुसुमधन्वा के साथ हुआ था[२]। ऐसे और भी कई उदाहरण मिलते हैं। इसी तरह वैश्य शूद्र की कन्या से विवाह कर सकता था। सारांश यह है कि हमारे निर्दिष्ट समय में अनुलोम विवाह की प्रथा थी, प्रतिलोम की नहीं। ये संबंध उन शूद्रों के साथ, जिनको पंचमहायज्ञों का अधिकार नहीं था, नहीं होते थे।

प्राचीन काल में पिता के वर्ण से पुत्र का वर्ण माना जाता था। ब्राह्मण का किसी भी वर्ण की कन्या से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण ही समझा जाता था, जैसे कि ऋषि पराशर के धीवरी से उत्पन्न पुत्र वेदव्यास और रेणुका (क्षत्रिय-कन्या) से उत्पन्न जमदग्नि के पुत्र परशुराम ब्राह्मण कहलाए। पीछे से यह प्रथा बदल गई, अर्थात् माता के वर्ण के अनुसार पुत्र का वर्ण माना जाने लगा। क्षत्रिय-कन्या से उत्पन्न ब्राह्मण का पुत्र क्षत्रिय ही माना जाता था, जैसा कि शंख और उशनस आदि स्मृतियों से पाया जाता है[3]।

---

[१] **'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', नवीन संस्करण; भाग ६, पृ० १९७-२००**

[२] **'दशकुमारचरित', विश्रुत कथा।**

[3] **'राजपुताने का इतिहास', जिल्द १, पृ० १४७-४८**

परस्पर के ये विवाह-संबंध शनैः-शनैः कम होते गए और फिर अपने अपने वर्णों में होने लगे। हमारे निर्दिष्ट काल के पीछे यह प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते केवल अपनी उपजातियों तक ही परिमित रह गई [1]।

छूतछात—आज की भाँति प्राचीनकाल में भिन्न-भिन्न वर्णों में छूतछात और साथ खाने-पीने का परहेज़ नहीं था। ब्राह्मण अन्य सब वर्णों के हाथ का भोजन खाते थे, जैसा कि व्यासस्मृति के "नापितान्वयमित्रार्द्ध सीरणो दासगोपकाः। शूद्राणामप्यमीषां तु भुक्त्वाऽन्नं नैव दुष्यति" से पता लगता है [2]। वर्तमान भेद-भाव हमारे समय के अंतिम भाग में भी प्रचलित नहीं हुआ था। अलबेरूनी लिखता है कि चारों वर्णवाले इकट्ठे रहते और एक दूसरे के हाथ का खातेपीते थे [3]। संभव है कि यह कथन उत्तरी भारत से संबंध रखता हो। दक्षिणी भारत में शाकाहारियों ने मांसाहारियों के साथ खाना छोड़ दिया था। यह भेद-भाव शनैः-शनैः सभी वर्णों में बढ़ता गया।

भारतीयों का भौतिक जीवन—भारतवर्ष ने केवल आध्यात्मिक उन्नति की ओर ही ध्यान नहीं दिया, उसने भौतिक उन्नति की तरफ़ भी पर्याप्त ध्यान दिया था। प्राचीन भारतीय यदि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ आदि आश्रमों में तपस्या को मुख्य स्थान देते थे, तो गृहस्थाश्रम में जीवन के सांसारिक आनंद भी भोगते थे। संपन्न लोग बड़े-बड़े आलीशान मकानों में रहते थे। खाने, पीने, सोने, बैठने, अतिथियों के रहने, संगीत, वाद्य आदि के लिए भिन्न-भिन्न कमरे होते थे। कमरों में वायु-संचार के लिए अच्छा प्रबंध रहता था। शहर के सामाजिक जीवन को आनंदमय बनाने के लिए समय-समय पर बड़े-बड़े मेले हुआ करते थे, जहाँ लोग हज़ारों की तादाद में सम्मिलित होतथे। हर्ष के समय हुएन्त्संग ने प्रति पाँचवें वर्ष होनेवाले धर्म-सम्मेलन का वर्णन किया है, जिसमें हर्ष भिक्षुकों को दान दिया करता था। इसके अतिरिक्त अन्य शुभावसरों पर भिन्न-भिन्न स्थानों में भी मेले हुआ

---

[1] चि० वि० वैद्य, 'हिस्ट्री ऑफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द १, पृ० ६१-६३; जिल्द २, पृ० १७८-८२

[2] 'व्यासस्मृति', अध्याय ३, श्लोक ५५

[3] 'अलबेरूनीज़ इंडिया', जिल्द १, पृ० १०१

करते थे। ऐसे धार्मिक मेले केवल आनंद के लिए नहीं होते थे, परंतु आर्थिक दृष्टि से भी इनका महत्व बहुत था। इन मेलों में दूर-दूर से व्यापारी आते थे और सामान ख़रीद फ़रोख़्त होता था। मेलों की यह प्रथा आज भी भारत में विद्यमान है। इन मेलों में समारोह बहुत होता था। बहुत से त्योहारों के अवसरों पर भी मेले किए जाते थे, जैसा कि 'रत्नावली' में वसंतोत्सव के उल्लेख से पाया जाता है। हिंदुओं में त्यौहारों का प्राधान्य है, वे उन्हें बहुत समारोह से मनाते थे। इन मेलों का हिंदुओं के सामाजिक जीवन में बहुत भाग था। होली के उत्सव में पिचकारी द्वारा रंग फेंकने का भी रिवाज था, जैसा कि हर्ष ने 'रत्नावली' में वर्णन किया है[१]। लोगों के दिल बहलाने के लिए नाटकगृह या प्रेक्षागृहों का उल्लेख भी मिलता है। इसी तरह गान-भवनों, चित्रशालाओं आदि का भी वर्णन मिलता है, जिनमें नागरिक जाकर आनंद करते थे। नाटक, नृत्य, संगीत और चित्रकला का विकास कितना हो चुका था,[२] इस पर आगे प्रकाश डाला जायगा। कभी-कभी उपवनों में बड़े-बड़े भोजों की भी व्यवस्था की जाती थी, जिनमें बहुत से स्त्री-पुरुष सम्मिलित होते थे। लोग तोता, मैना आदि पक्षियों को पालने के शौक़ीन थे। वे मुर्ग़ों, तीतरों, भैंसों, मेढ़ों और हाथियों की परस्पर लड़ाई कराकर विनोद करते थे। बड़े-बड़े मल्ल कुश्ती भी लड़ते थे। सवारी के लिए घोड़ों, हाथियों, रथों और पालकियों का प्रयोग होता था। जल-विहार भी बहुत होता था, जिसमें नौकाओं का प्रयोग किया जाता था। जल-विहार में स्त्रियाँ और पुरुष सभी सम्मिलित होते थे। स्त्री-पुरुष मिलकर झूला झूलते थे। दोलोत्सव विशेषतः वर्षा ऋतु में हुआ करता था। इस प्रथा का आज भी प्रायः सारे भारत में प्रचार है। इन सब आनंदप्रद उत्सवों और प्रथाओं के अतिरिक्त शतरंज, चौपड़ आदि खेल भी खेले जाते थे। उस समय जुए का भी बहुत प्रचार

---

[१] धारायंत्रविमुक्तसंततपयः पूरप्लुते सर्वतः।
सद्यः सांद्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे क्षणं प्रांगणे ॥११॥
रत्नावली, अंक १

[२] राधाकुमुद मुकर्जी, 'हर्ष', पृ० १७५-७६

था, परंतु उस पर निरीक्षण रहता था। द्यूत-गृहों पर सरकारी कर लगता था, जैसा कि शिलालेखों आदि से पाया जाता है।[1]

क्षत्रिय लोग आखेट भी बहुत करते थे। राजा और राजकुमार अपने दल-बल के साथ शिकार करने जाया करते थे। यह शिकार तीर, भालों आदि से होता था। शिकार में कुत्ते आदि भी साथ रहते थे।

वस्त्र—कुछ विद्वानों का खयाल है कि हर्ष के समय तक भारत में सीने की कला का प्रचार नहीं हुआ था।[2] वे अपने पक्ष की युक्ति में हुएन्त्संग का एक कथन[3] पेश करते हैं; परंतु उनका यह मत भ्रांतिपूर्ण है। भारत में सब प्रकार के शीत, उष्ण और शीतोष्ण प्रदेश होने के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों में अत्यंत प्राचीन काल से आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। वेदों तथा ब्राह्मण ग्रंथों में सुई का नाम 'सूची'[4] या 'बेशी'[5] मिलता है। तैत्तिरीयब्राह्मण में सुई के तीन प्रकार की अर्थात् लोहे, चाँदी, और सोने की होने का उल्लेख है[6]। ऋग्वेद में कैंची को 'भुरिज'[7] कहा है। सुश्रुतसंहिता में बारीक डोरे से सीने 'सीव्ये सूक्ष्मेण सूत्रेण' का वर्णन है। रेशमी चोगे को 'तार्प्य'[8] और ऊनी कुरते को 'शामूल'[9] कहते थे। 'द्रापि'[10] भी एक प्रकार का सिया हुआ वस्त्र था; जिसके विषय में

---

[1] वि० सं० १००८ (ई० स० ९५१) के उदयपुर के निकट के सारणेश्वर में लगे हुए प्राचीन शिलालेख से।

[2] चि० वि० वैद्य, 'हिस्ट्री ऑफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द १, पृ० ८९

[3] वाटर्स आन युवनच्वांग, जिल्द १, पृ० १४८

[4] ऋग्वेद २।३२।४।।

[5] वही, ७।१८।१४।।

[6] तैत्तिरीयब्राह्मण ३।९।६।।

[7] ऋग्वेद ८।४।१६।।

[8] अथर्ववेद १८।४।३१।।

[9] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १।३८।४।।

[10] ऋग्वेद १।२५।१३।।

सायण लिखता है कि वह युद्ध के समय पहना जाता था। सिर्फ़ कपड़ा ही नहीं, चमड़ा भी सिया जाता था। चमड़े की भस्त्री (थैली) का भी वर्णन वैदिक साहित्य तक मे मिलता है।

अपने निर्दिष्ट काल मे पूर्व की इन बातों को लिखने से हमारा अभिप्राय यही सिद्ध करना है कि हमारे यहाँ सीने की कला बहुत प्राचीन काल से विद्यमान थी।

हमारे निर्दिष्ट समय में स्त्रियों का मामूली बस्त्र अंतरीय अर्थात् साड़ी थी, जो आधी पहनी और आधी ओढ़ी जाती थी। बाहर जाने के समय उस पर उत्तरीय (दुपट्टा) रहता था। स्त्रियाँ नाचने के समय लहँगे जैसा ज़री के काम का वस्त्र पहनती थीं, जिसका नाम 'पेशस्' था [१]। मथुरा के कंकाली टीले से मिली हुई एक शिला पर रानी और उसकी दासियों के चित्र अंकित हैं। रानी लहँगा पहने और ऊपर उत्तरीय धारण किए हुए है [२]। स्मिथ ने अपनी पुस्तक में एक जैनमूर्ति के नीचे दो श्रावक और तीन श्राविकाओं की खड़ी मूर्तियों के चित्र दिए हैं। ये तीनों स्त्रियाँ लहँगे पहने हुए हैं [३]। ये लहँगे आज के लहँगों के समान ही हैं। दक्षिण में, जहाँ लहँगे का रिबाज नहीं है, आज भी नाचते समय स्त्रियाँ लहँगा पहनती हैं। स्त्रियाँ छींटवाले कपड़े भी पहनती थीं, जैसा कि अजंटा की गुफा में बच्चे को गोद में लिए हुए एक श्याम वर्ण की स्त्री के सुंदर चित्र से ज्ञात होता है। उसमें स्त्री कमर से नीचे तक आधी बाँहवाली सुंदर छींट की अँगिया पहने हुई है [४]। व्यापारी लोग रुई के चोग़े और कुरते भी पहनते थे। दक्षिण के लोग सामान्य रूप से दो धोतियों से काम चलाते थे। धोतियों में सुंदर-सुंदर किनारा भी होता था। एक धोती पहनते थे और एक ओढ़ते थे। कश्मीर आदि की तरफ़वाले कछनी (हाफ़ पैंट) पहनते थे [५]।

---

[१] ऋग्वेद २।३।६॥

[२] स्मिथ, 'मथुरा ऐंटिक्विटीज़', प्लेट १४

[३] वही, प्लेट ८५

[४] स्मिथ, 'आक्सफ़र्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया', पृ० १५९

[५] राधाकुमुद मुकर्जी, 'हर्ष', पृ० १७०-७१

इन कपड़ों में विविधता, सुंदरता और सफ़ाई की ओर भी बहुत ध्यान दिया जाता था। हुएन्त्संग ने रुई, रेशम तथा ऊन के वस्त्रों का वर्णन किया है[1]। राज्यश्री के विवाह के लिए तैयार कराए गए वस्त्रों का वर्णन करते हुए बाण लिखता है—रेशम, रुई, ऊन, साँप की केंचुली के समान महीन, श्वास से उड़ जानेवाले, स्पर्श से ही अनुमेय और इंद्रधनुष के समान रंगवाले कपड़ों से घर भर गया था[2]। स्त्रियाँ प्रायः रंगीन कपड़े पसंद करती थीं। बौद्ध साधु प्रायः लाल, हिंदू संन्यासी भगवा और जैन (श्वेतांबर) साधु श्वेत या पीला कपड़ा पहनते थे। विधवाएँ प्रायः सफ़ेद कपड़े पहनती थीं। राजा लोग सिर पर रत्नजटित मुकुट धारण करते थे। साधारण लोग पगड़ी (उष्णीष) बाँधते थे। बालों के श्रृंगार की तरफ़ भी काफ़ी ध्यान दिया जाता था। पुरुष बड़े-बड़े बाल रखते थे। स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के अत्यंत सुंदर केश-विन्यास करती थीं, जिनका पता उस समय की बनी हुई मूर्तियों से लगता है। बालों का पीछे जूड़ा भी बाँधा जाता था, जिस पर सुगंधित फूल लगाए जाते थे; सिर पर तरह-तरह से मोतियों की लड़ें और रत्नजटित आभरण भी धारण किए जाते थे। ब्राह्मण लोग सिर और दाढ़ी के बाल कटवाते थे। क्षत्रिय लोग लंबी-लंबी दाढ़ी रखते थे, जैसा कि बाण के एक सनापति के वर्णन से पता लगता है। बहुत से लोग पैरों में जूते नहीं पहनते थे[3]।

आभूषण—शरीर को सजाने के लिए गहनों का भी बहुत प्रयोग होता था। पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही गहनों के शौक़ीन थे। हुएन्त्संग लिखता है कि राजा और संपन्न लोग विशेष आभूषण पहनते हैं। अमूल्य मणियों

---

[1] रास बील, 'बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑफ़ दि वेस्टर्न वर्ल्ड', जि० १, पृ० ७५

[2] क्षौमैश्च बादरैश्च दुकूलैश्च लालातन्तुजैश्चांशुकैश्च नैत्रैश्च निर्मोकनिभैर्नश्वासहार्यैः स्पर्शानुमेयैः वासोभिस्सर्वतःफुरदिन्द्रायुधसहस्रैरिव संच्छादितम्।

हर्षचरित, पृ० २०२-३

[3] चि० वि० वैद्य, 'हिस्ट्री ऑफ़ मिडिएवल इंडिया,' जि० १, पृ० ९२-९३

और रत्नों के हार, अँगूठियाँ, कड़े और मालाएँ उनके आभूषण हैं[1]। सोने चाँदी के रत्नजटित भुजबन्द, सादे या मकराकृति सोने के कुंडल आदि बहुत से आभरण पहने जाते थे। कभी-कभी स्त्रियाँ कानों के नीचे के भाग को दो विभागों में छिदवाती थीं और प्रत्येक भाग में छेद कराकर उनके बीच तार डलवाती थीं, जिसमें सोने आदि की कई कड़ियां रहती थीं। कान के नीचे के भाग को छेदकर उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के आभूषण पहनने की रीति तो उनमें साधारण सी थी। ऐसे छिदे हुए कानवाली स्त्रियों की मूर्तियाँ कई अजायबघरों में संगृहीत हैं। पैरों में भी सादे या घुंघरूवाले ज़ेवर पहने जाते थे। हाथों में कड़े और शंख तथा हाथीदाँत की तरह-तरह के कामवाली चूड़ियाँ, बाहु पर भिन्न-भिन्न प्रकार के भुजबंद, गले में उत्तम और बहुमूल्य हार और अँगुलियों में भिन्न-भिन्न प्रकार की अँगूठियाँ पहनी जाती थीं। स्तन कहीं खुले, कहीं पट्टी बँधे हुए और कहीं चोली से ढके हुए रहते थे। संपन्न स्त्री-पुरुष सुगंधित पुष्पों की मालाएँ भी पहनते थे। चांडालों की स्त्रियाँ पैरों में रत्नजटित गहने पहन सकती थीं[2]। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार गहने पहनता था। किसी को कुछ पहनने की मनाही नहीं थी। नथ और बुलाक़ का उल्लेख प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता; संभव है, यह मुसलमानों से लिया गया हो[3]।

विद्वान् लोग भी भिन्न-भिन्न प्रकार की साहित्य-चर्चाओं द्वारा विनोद किया करते थे। ऐसी साहित्य-चर्चाएँ राजसभाओं या विद्वानों की मंडलियों में होती थीं। बाणभट्ट अपनी 'कादंबरी' में राजसभा में कुछ साहित्य-चर्चाओं—काव्यप्रबंध की रचना, आख्यानक कथाएँ, इतिहास और पुराणों के श्रवण, संगीत, अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, बिंदुमती, गूढ़चतुर्थपाद, प्रहेलिका —आदि का वर्णन करता है[4]।

---

[1] **वाटर्स आन युवनच्वांग, जिल्द १, पृ० ५१**

[2] **'कादंबरी' में चांडाल-कन्या का वर्णन।**

[3] **चि० वि० वैद्य, 'हिस्ट्री ऑफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द २, पृ० १८७-८८**

[4] **'कादंबरी', पृ० १४, निर्णयसागर संस्करण।**

भोजन—भोजन में शुद्धि और सफ़ाई का बहुत ख़याल रखा जाता था। इत्सिंग ने इस संबंध में बहुत कुछ लिखा है। हुएन्त्संग ने लिखा है कि—"भारतीय स्वयं ही पवित्र रहते हैं, किसी दबाव के कारण नहीं। भोजन के पूर्व वे स्नान करते हैं। उच्छिष्ट भोजन पीछे किसी को नहीं खिलाया जाता। भोजन के पात्र एक के बाद दूसरे को नहीं दिए जाते। मिट्टी और लकड़ी के पात्र एक बार के प्रयोग के बाद प्रयुक्त नहीं होते। सोने, चाँदी, ताँबे आदि के पात्र शुद्ध किए जाते हैं[1]।" यह शुद्धि आज भी पर्याप्त रूप से ब्राह्मणों आदि में विद्यमान है, यद्यपि अब इस पर कुछ कम ध्यान दिया जाने लगा है।

भारतीयों का भोजन साधारणतया गेहूँ, चावल, ज्वार, बाजरा, दूध, घी, गुड़ और शक्कर था। अल् इदरिसी अनहिलवाड़े के प्रसंग में लिखता है—"वहाँ के लोग चावल, मटर, फलियाँ, उड़द, मसूर, मछली और अन्य पशुओं को, जो स्वयं मर गए हों, खाते हैं, क्योंकि वे कभी पशु-पक्षियों को मारते नहीं"[2] महात्मा बुद्ध से पूर्व मांस का भी प्रचार बहुत था। जैन और बौद्धधर्म के कारण शनैः-शनैः यह कम होता गया; हिंदूधर्म के पुनरभ्युदय के समय जब बहुत से बौद्ध हिंदू हुए, तो अहिंसा और शाकाहार का धर्म भी साथ लाए। हिंदूधर्म में मांसाहार पाप समझा जाने लगा। मांस के प्रति बहुत विरक्ति हो गई थी। मसऊदी लिखता है कि ब्राह्मण किसी पशु का मांस नहीं खाते। स्मृतियों में भी ब्राह्मणों के मांस न खाने का विधान होने पर भी कुछ पिछली स्मृतियों में श्राद्ध के समय मांस खाने की आज्ञा दी गई है। इस पर व्यास-स्मृति में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि श्राद्ध में मांस न खानेवाला ब्राह्मण पतित हो जाता है[3]। शनैः-शनैः मांस खाने की प्रवृत्ति बढ़ती गई और ब्राह्मणों के एक भाग ने मांसभक्षण आरंभ कर दिया। क्षत्रिय और

---

[1] वाटर्स आन युवनच्वांग; जिल्द ९, पृ० १५२

[2] चि० वि० वैद्य, 'हिस्ट्री ऑफ़ मिडिएवल इंडिया', जि० २, पृ० १९२

[3] नाश्नीयाद्ब्राह्मणो मांसमनियुक्तः कथंचन।
क्रतौ श्राद्धे नियुक्तो वा अनश्नन् पतति द्विजः॥

वैश्य भी मांस खाते थे। हरिण और भेड़ बकरी के मांस के अतिरिक्त प्रायः अन्य मांस निषिद्ध थे। कभी-कभी मछली भी खाई जाती थी। प्याज़ और लहसुन का प्रयोग वर्जित था और उनके खानेवाले प्रायश्चित्त के भागी समझे जाते थे।

उत्तरीय भारत की अपेक्षा दक्षिण में मांस का प्रचार बहुत कम था। चांडाल सब प्रकार के मांस खाते थे, इसलिए वे सब से अलग रहते थे।

मद्य-पान का प्रचार भी प्रायः नहीं था। द्विजों को तो शराब बेचने की भी आज्ञा नहीं थी। ब्राह्मण तो मद्य बिलकुल नहीं पीते थे। अल् मसऊदी ने राजाओं के विषय में लिखा है कि यदि कोई राजा मदिरा पी ले, तो वह राज्य करने के योग्य नहीं समझा जाता था, परंतु शनैः-शनैः क्षत्रियों में मदिरा का प्रचार बढ़ता गया। अरबी यात्री सुलैमान लिखता है कि भारतीय शराब नहीं पीते। इसका कथन है कि जो राजा शराब पी ले, वह वास्तव में राजा नहीं है। आसपास में आपस के लड़ाई बखेड़े होते रहते हैं, तो वह राजा जो कि मतवाला हो, भला क्योंकर राज्य का प्रबंध कर सकता है[२]। वात्स्यायन के कामसूत्र से मालूम होता है कि श्रीमंत नागरिक लोग बाग-बगीचों में जाते और वहाँ शराब भी पीते थे।

उस समय स्वच्छता का विचार अवश्य था, परंतु परस्पर का भोजन निषिद्ध न था। छूतछात का विचार वैष्णवधर्म के प्रचार के साथ पीछे से बढ़ा।

ऊपर लिखे हमारे वर्णन का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि भारतीय केवल भौतिक जीवन की तरफ़ बढ़े हुए थे। उनका आध्यात्मिक जीवन भी बहुत उन्नत था। बहुत सी धार्मिक बातें उनके जीवन का अंग बनी हुई थीं। पंच-महायज्ञ गृहस्थी के लिए आवश्यक कर्तव्य थे। अतिथि-सत्कार तो बहुत बढ़ा हुआ था। यज्ञों में पशु-हिंसा बौद्धधर्म के कारण कम हो चुकी थी। उसके साथ यज्ञों का होना भी अवश्य कम हो गया था, परंतु

---

[१] सुलेमान सौदागर, पृ० ७८ (नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित)

हिंदूधर्म के अभ्युदय के साथ फिर यज्ञ आरंभ हो गए थे। हमारे निर्दिष्ट काल में बड़े-बड़े यज्ञों का उल्लेख बहुधा नहीं मिलता।

दास-प्रथा—हिंदू समाज जहाँ इतना अधिक उन्नत था, वहाँ उसमें किसी न किसी रूप में, दास-प्रथा भी विद्यमान थी। दास-प्रथा हमारे निर्दिष्ट समय से बहुत काल पूर्व से चली आती थी। मनु और याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों में दास-प्रथा का वर्णन है। याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर (बारहवीं शताब्दी) ने पंद्रह प्रकार के—गृहजात (घर की दासी से उत्पन्न), क्रीत (ख़रीदा गया), लब्ध (दानादि में मिला हुआ), दायादुपागत (वंश-परंपरागत), अनाकालभृत् (दुर्भिक्ष में मरने से रक्षित), आहित (धन देकर अपने पास रखा हुआ), ऋणदास (क़र्ज़ में रखा हुआ), युद्धप्राप्त (लड़ाई में पकड़ा हुआ), पणेजित (जुए आदि में जीता हुआ), उपगत (यों आया हुआ), प्रव्रज्यावसित, (साधु होने के बाद बिगड़कर दास बना हुआ), कृत (समय की शर्त के साथ रखा हुआ), भक्तदास (भक्तिवश आया हुआ), बडवाहृत (घर की दासी के लोभ से आया हुआ) और आत्मविक्रेता (अपने आपको बेचने वाला)—दासों का उल्लेख किया है[१]। दास लोग जो कुछ कमाते थे उस पर उनके स्वामी का ही अधिकार होता था। कुछ लोग दासों की चोरी करके उनको बेचते भी थे।

यहाँ की दास-प्रथा अन्य देशों की दास-प्रथा की भाँति कलुषित, घृणित और निंदनीय नहीं थी। ये दास घरों में परिवार के एक अंग की तरह

---

[१] गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः।
अनाकालभृतस्तद्वदाहितः स्वामिना च यः॥
मोक्षितो महतश्चर्णाद्युद्धप्राप्तः पणेजितः।
तवाहमित्युपगतः प्रव्रज्यावसितः कृतः॥
भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव बडवाहृतः।
विक्रेता चात्मनः शास्त्रे दासाः पञ्चदशस्मृताः।

मिताक्षरासहित; पृ० २४९

रहते थे। त्यौहार आदि शुभ अवसरों पर दासों पर भी विशेष कृपा होती थी। जो दास अच्छा कार्य करते थे, उन पर स्वामी बहुत अधिक कृपा करते थे। राज्य की ओर से दासों के लिए विशेष दया के नियम बने हुए थे। याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखा है कि ज़बर्दस्ती दास बनाए हुए और चोरों द्वारा ख़रीदे गए दासों को यदि स्वामी मुक्त न करे तो राजा उन्हें स्वतंत्र करा दे। किसी कठिन अवसर पर स्वामी के प्राण बचानेवाला भी मुक्त कर दिया जाता था[1]। नारदस्मृति में तो यहां तक लिखा है कि स्वामी के प्राण बचानेवाले को पुत्र की तरह जायदाद का भाग भी दिया जाय। जो क़र्ज़ आदि लेकर दास बनते थे, वे स्वामी से लिया हुआ सब ऋण चुका कर चाहे जब मुक्त हो सकते थे। इसी तरह अन्य प्रकार के दास भी मुक्त होते थे। अनाकालभृत दो गौवें देकर, आहित धन देकर, युद्धप्राप्त स्वयं संप्रतिपन्न और पणेजित दास कोई उत्तम सेवा कर या अपने स्थान पर प्रतिनिधि देकर मुक्त हो सकते थे[2]। मिताक्षरा में उस समय दास के मुक्त करने की विधि का भी उल्लेख है। स्वामी दास के कंधे से पानी का भरा हुआ घड़ा उठाता और तोड़ कर अक्षत, पुष्प आदि दास पर फेंकता तथा तीन बार 'अब तू दास नहीं है', यह कहकर उसे मुक्त कर देता[3]। यहाँ दास विश्वासपात्र निजी सेवक समझे जाते थे, उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं होता था। ऐसी स्थिति में चीनी या अरब यात्रियों को हमारे यहाँ के सेवकों

---

[1] **बलाद्दासीकृतश्चौरैर्विक्रीतश्चापि मुच्यते ।**
स्वामिप्राणप्रदो भक्त त्यागात्तन्निष्क्रयादपि ।।

मिताक्षरासहित; पृ० २४९

[2] **वही, पृ० २४९-५०**

[3] **स्वं दासमिच्छेद्यः कर्तुमदासं प्रीतमानसः ।**
स्कंधादादाय तस्यासौ भिंद्यात्कुम्भं सहाम्भसा ।।
साक्षताभिः सपुष्पाभिर्मूर्धन्यद्भिरवाकिरेत् ।
अदास इत्यथोक्त्वा त्रिः प्राङमुखं तमवासृजेत् ।।

वही, पृ० २५०

और दासों में अंतर मालूम नहीं पड़ा, इसी से उन्होंने दास-प्रथा का उल्लेख नहीं किया।

वहम—साहित्य और विज्ञान की अत्यंत उन्नति होते हुए भी साधारण जनता में वहम बहुत थे। लोक भिन्न-भिन्न जादू-टोनों तथा भूत-प्रेत आदि में विश्वास करते थे। जादू-टोनों की प्रथा अत्यंत प्राचीन काल से भारतवर्ष में विद्यमान थी। अथर्ववेद में अभिचार, सम्मोहन, पीड़न, वशीकरण, मारण आदि का वर्णन है। राजा के पुरोहित अथर्ववेद के विद्वान् होते थे। शत्रुओं को नष्ट करने के लिए राजा जादू और टोनों का भी प्रयोग कराते थे। हमारे समय में भी इनका बहुत प्रचार था। बाण ने प्रभाकरवर्धन की बीमारी के समय लोगों का पिशाच-बाधा मानना और उनका उपाय करना भी लिखा है[१]। कादंब ी में भी बाण ने पुत्र-प्राप्ति के लिए विलासवती का जादू के मंडलों में दिक्पालों को प्रसन्न करने, तावीज़ पहनने और गंडे बाँधने, गीदड़ों को मांसपिंड खिलाने तथा शकुन जाननेवालों का आदर करने का उल्लेख किया है[२]। ऐसे ही गर्भ के समय उसकी भूतों से रक्षा करने के लिए पलंग के नीचे राख के मंडल बनाने, गोरोचन से भोजपत्र पर लिखे मंत्रों के यंत्र बाँधने, कात्यायनी से रक्षा के लिए मोरपंखों के उरसने, सफ़ेद सरसों के बिखेरने आदि क्रियाओं का भी बाण ने वर्णन किया है[3]। भवभूति ने 'मालतीमाधव' में इष्टसिद्धि के लिए अघोरघंट द्वारा बलिदान के लिए मालती को देवी के मंदिर में ले जाने का उल्लेख किया है। 'गौडवहो' में भी देवी की तुष्टि के लिए मनुष्यों और पशुओं की बलि का वर्णन है। इन सब बातों से पाया जाता है कि हमारे निर्दिष्ट समय में जादू-टोनों की प्रथा विद्यमान थी; लोग भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि पर विश्वास करते थे। राजा लोग अपने शत्रु पर कृत्या (मारण) और मंत्रों द्वारा घावों के आराम कराने का प्रयोग भी करते थे, जैसा कि सोमेश्वर कवि के 'सुरथोत्सव'

---

[१] **'हर्षचरित', पृ० १५४ (निर्णयसागर संस्करण)**

[२] **'कादंबरी', पृ० १२८-३० (निर्णयसागर संस्करण)**

[3] **वही, पृ० १३६-३७**

काव्य से जान पड़ता है। देवियों की तुष्टि के लिए पशुओं और मनुष्यों की बलि देने की घृणित और निर्दय प्रथा भी उस समय कुछ-कुछ विद्यमान थी।

चरित्र—इस विषय को समाप्त करने से पूर्व उस समय के लोगों के चरित्र पर भी दो-चार शब्द कहना अप्रासंगिक न होगा। प्राचीन काल से ही भारतीयों का चरित्र बहुत उज्ज्वल और प्रशंसनीय रहा है। मेगस्थनीज़ ने भारतीयों के विषय में लिखा है कि "वे सत्य बोलते थे, चोरी नहीं करते थे, वे अपने घरों में ताला नहीं लगाते थे। वीरता में भारतीय एशियावासियों से बढ़े-चढ़े थे। वे गंभीर और श्रमशील थे। उन्हें मुक़द्दमा कराने की आवश्यकता कभी न होती थी।" यह उच्च चरित्र अत्यंत प्राचीन समय में ही नहीं थे किंतु हमारे समय के यात्रियों ने भी ऐसे ही वर्णन किए हैं। हुएत्संग लिखता है कि भारतीय सरलता और ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध हैं। वे अन्याय से धनसंचय नहीं करते। अल् इदरिसी लिखता है कि "भारतीय लोग सदा न्यायपरायण रहते हैं और उससे विमुख कभी नहीं होते। उनके व्यवहार में भलाई, प्रामाणिकता और निष्कपटता प्रसिद्ध है और इन विषयों में वे इतने प्रसिद्ध हैं कि सब देशों के लोग उनके यहाँ पहुँचते हैं और इससे उनका देश समृद्ध हो गया है[1]। तेरहवीं सदी का शम्सुद्दीन अबु अब्दुल्ला बेदी इज्र जमा के फ़ैसले को उधृत करते हुए लिखता है कि "भारत की बस्ती बहुत घनी है। वहाँ के लोग धोखे और ज़बर्दस्ती से अलग रहते हैं। वे जीने मरने की कुछ परवाह नहीं करते"[2]। मार्को पोलो (तेरहवीं सदी) का कथन है कि "ब्राह्मण उत्तम व्यापारी और सत्यवादी हैं। वे मद्य-मांस का उपयोग नहीं करते और संयमी जीवन व्यतीत करते हैं। वे चिरायु होते हैं[3]।" उस समय क्षत्रिय खाट पर मरना अपने लिए निंदनीय समझते थे। युद्धों में मरने के लिए वे लालायित रहते थे, परंतु ऐसा अवसर न मिलने पर वे कभी-कभी पर्वत से लुढ़ककर (भृगुपतन), अग्नि में बैठ-

---

[1] **इलियट, 'हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया', जिल्द १, पृ० ८८**

[2] **मैक्समूलर, 'इंडिया', पृ० २७५**

[3] **मार्को पोलो (मिस यूल द्वारा संपादित), जिल्द २, पृ० ३५० और ३६०**

कर जल मरते या जल में डूबकर मर जाते थे। बल्लाल सेन तथा धंगदेव के पानी में डूबने और 'मृच्छकटिक' के कर्ता शूद्रक आदि के आग में जल मरने के उदाहरण मिलते हैं। कई ब्राह्मण जब देखते थे कि वे वृद्ध हो गए हैं, तब वे स्वयं अग्नि में जल मरते या पानी में कूद पड़ते थे। सिकंदर के समय में भी अग्नि में बैठकर मरनेवाले एक ब्राह्मण का वर्णन मिलता है। मार्को पोलो भी इस प्रथा का वर्णन करता है[1]।

भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान

किसी समाज की उन्नति तब तक पूर्ण नहीं समझी जा सकती जब तक उसमें स्त्रियों को उच्च स्थान न मिले। अत्यंत प्राचीन काल में भारत में स्त्रियों का आदर होता था इसलिए उन्हें अर्धांगिनी का नाम दिया गया था। घर में उनका दर्जा बहुत ऊँचा था। यज्ञ-यागादि में पति के साथ उनका बैठना आवश्यक समझा जाता था। रामायण और महाभारत में ही नहीं किंतु उनके बाद के नाटकों में भी स्त्रियों की स्थिति को अत्यंत उच्च बताया गया है। हमारे निर्दिष्ट समय तक भी समाज में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा था। भवभूति और नारायण भट्ट आदि के नाटकों से जान पड़ता है कि उस समय स्त्रियों का यथेष्ट मान और आदर किया जाता था।

स्त्री-शिक्षा— पिछले समय की तरह उस समय में 'स्त्री-शूद्रौ नाधीयताम्' प्रचलित न था। स्त्रियाँ भी पढ़ती थीं। बाणने लिखा है कि राज्यश्री को बौद्ध सिद्धांतों की शिक्षा देन के लिए दिवाकर मित्र नियुक्त किया गया था। बहुत सी स्त्रियाँ बौद्ध भिक्षु भी होती थीं, जो निस्संदेह बौद्ध सिद्धांतों से भली भाँति परिचित होंगी। शंकराचार्य के साथ शास्त्रार्थ करनेवाली मंडन मिश्र की प्रकांड विदुषी पत्नी के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसने शंकराचार्य को भी निरुत्तर कर दिया था। प्रसिद्ध कवि राजशेखर की चौहान पत्नी अवंतिसुंदरी बहुत विदुषी थी। राजशेखर ने अन्य विद्वानों से अपना मतभेद प्रकट करते हुए जहाँ और विद्वानों का मत दिखाया है, वहाँ उसने तीन स्थलों पर अवंतिसुंदरी का भी भिन्न मत दिया है। उस (अवंतिसुंदरी) ने प्राकृत कविता

---

[1] चि० वि० वैद्य, 'हिस्ट्री ऑफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द २, पृ० १९१

वर्णन किया है। राज्यश्री हुएन्त्संग से स्वयं मिली थी। तत्कालीन नाटकों में भी पर्दे का कोई उल्लेख नहीं है। यात्री अबुज़ैद ने भी राजदरबारों में देशियों और विदेशियों के सामने स्त्रियों के उपस्थित होने का उल्लेख किया है। मेलों और उपवनों में पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों के जाने का उल्लेख कामसूत्र आदि में मिलता है। स्त्रियाँ राजा के सेवक का कार्य भी करती थीं और दरबार, हवाखोरी, लड़ाई आदि में उनके साथ रहती थीं। वे शस्त्र धारण कर घोड़ों पर सवार होती थीं। कहीं-कहीं युद्ध के समय रानियों और अन्य स्त्रियों के पकड़े जाने का भी उल्लेख मिलता है। दक्षिण के पश्चिमी सोलंकी विक्रमादित्य की बहिन अक्कादेवी वीर प्रकृति की और राजकार्य में निपुण थी और चार प्रदेशों पर शासन भी करती थी। एक शिलालेख से पाया जाता है कि उसने गोकागे (गोकाक, बेलगाँव ज़िले में) के क़िले पर भी घेरा डाला था। इसी तरह ऐसे अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि उस समय पर्दे की प्रथा विद्यमान नहीं थी। इतना निश्चित है कि राजाओं के अंतःपुर में सर्वसाधारण का प्रवेश नहीं होता था। मुसलमानों के आने के बाद से पर्दे का प्रचार हुआ। उत्तरीय भारत में मुसलमानों का ज़ोर अधिक होने से वहाँ शनैः-शनैः पर्दे एवं घूँघट की प्रथा बड़े घरों में चली, परंतु जहाँ उनका अधिक प्रभाव नहीं हुआ, वहाँ पर्दा या घूँघट नहीं चला। आज भी राजपूताने से दक्षिण के सारे भारतवर्ष में पर्दे की प्रथा नहीं है और कहीं है भी तो नाममात्र को।

विवाह—मनुस्मृति में, जो हमारे समय से पूर्व बन चुकी थी, आठ प्रकार के—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षसऔर पैशाच—विवाहों का उल्लेख है। बहुत संभव है, उस समय विवाह के ये प्रकार थोड़े बहुत प्रचलित हों, परंतु इनका प्रचार कम हो रहा था। याज्ञवल्क्य ने इन आठों का उल्लेख कर पहले चार को ही करने योग्य बताया है। विष्णु और शंख स्मृतियों में भी पहले चार को ही ग्राह्य बताया है। हारीतस्मृति में तो केवल ब्राह्मविवाह को ही उचित कहा गया है।

कुलीन घरों में बहु-विवाह की प्रथा विद्यमान थी। राजा, सरदार आदि धनाढ्य लोग प्रायः कई विवाह करते थे। एक शिलालेख में कलचुरी राजा

गांगेयदेव के मरने पर उसकी बहुत सी स्त्रियों के सती होने का उल्लेख है। उस समय तक बाल-विवाह की प्रथा आरंभ नहीं हुई थी। कालिदास ने शकुंतला के साथ दुष्यंत के मिलने का उल्लेख किया है, उस समय शकुंतला बड़ी हो गई थी। गृह्यसूत्र में विवाह के कुछ समय बाद गर्भाधान करने का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि कन्या उस समय तक बड़ी हो जाती थी। मनुस्मृति में कन्या की आयु १६ वर्ष दी है। राज्यश्री की भी विवाह के समय १४ वर्ष की अवस्था थी। 'कादंबरी' में वर्णित महाश्वेता या कादंबरी की आयु भी विवाहयोग्य हो गई थी। हाँ, हमारे निर्दिष्ट काल के अंतिम समय में बाल-विवाह की प्रथा आरंभ अवश्य हो गई थी। मुसलमानों के आने के बाद इस प्रथा का अधिक प्रचार हुआ। विधवा-विवाह की प्रथा यद्यपि पहले की तरह उस समय प्रचलित नहीं थी, फिर भी उसका एकदम अभाव न था। याज्ञवल्क्यस्मृति में भी विधवा-विवाह का वर्णन है। विष्णु ने तो यहाँ तक लिखा है कि असंभुक्त विधवा के दूसरी बार विवाह से उत्पन्न पुत्र जायदाद के भी अधिकारी हैं। पराशर तक ने लिखा है कि यदि किसी स्त्री का पति मर गया हो, या साधु बन गया हो, लापता हो गया हो या नपुंसक या पतित हो गया हो तो वह पुनर्विवाह कर सकती है[1]। प्रसिद्ध जैन मंत्री वस्तुपाल तेजपाल का विधवा से उत्पन्न होना प्रसिद्ध ही है। इस प्रथा का प्रचलन शनैः-शनैः कम होता गया और अंत में द्विजों में यह प्रथा बिलकुल नष्ट हो गई। अलबेरूनी लिखता है कि एक स्त्री दूसरी बार विवाह नहीं कर सकती। विधवाओं के वस्त्र वेशभूषा आदि भी सब दूसरी तरह के थे, जैसा कि राज्यश्री के विधवा होने पर बाण के 'बध्नातु वैधव्यवेणीं' लिखने से पाया जाता है। आज भी प्रायः उच्च कुलों में विधवा-विवाह नहीं होता, परंतु बहुत सी जातियों में विधवा-विवाह प्रचलित है।

सती-प्रथा—सती-प्रथा का कुछ-कुछ प्रचलन भी हमारे निर्दिष्ट काल

---

[1] नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥
अध्याय ४

के पूर्व से चला आता था। यह प्रथा हमारे समय में किसी प्रकार बढ़ती गई। हर्ष की माता के स्वयं अग्नि में जल मरने का वृत्तांत 'हर्षचरित' में मिलता है। राज्यश्री भी अग्नि में कूदने को तैयार हो गई थी, परंतु उसे हर्ष ने रोक लिया। हर्ष-रचित 'प्रियदर्शिका' में विंध्यकेतु की स्त्री के सती होने का वर्णन मिलता है। इससे पूर्व छठी सदी के एक शिलालेख से भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की स्त्री के सती होने का उदाहरण मिलता है। अलबेरूनी लिखता है—"विधबाएँ या तो तपस्विनी का जीवन व्यतीत करती हैं या अग्नि में जल जाती हैं। राजाओं की स्त्रियाँ, यदि वे वृद्ध न हों, सती हो जाती हैं।[1]" सब विधवाओं के लिए सती होना आवश्यक नहीं था। जिस किसी की इच्छा होती, वही सती हुआ करती थी।

ये प्रथाएँ होते हुए भी साधारणतः स्त्रियों की सामाजिक स्थिति बहुत उच्च थी। उनका पूर्ण आदर होता था। उनकी जो दिनचर्या वेदव्यास-स्मृति में दी गई है, वह पढ़ने लायक़ है। उसका सारांश नीचे दिया जाता है—पत्नी पति से पूर्व उठकर घर साफ़ करे, स्नान करे और भोजन बनावे। पति को भोजन कराकर वैश्वदेव यज्ञ करे। तदनंतर स्वयं भोजन कर शेष दिन आयव्यय की चिंता करे। सायंकाल को फिर घर में झाड़ू-चौका देकर भोजन बनावे और पति को खिलाए। घरों में स्त्रियों का पूरा सम्मान था। मनुस्मृति में लिखा है कि जिस घर में स्त्रियों का सम्मान किया जाता है, वहीं देवता रहते हैं। उसी में लिखा है—आचार्य उपाध्याय से, और पिता आचार्य से दसगुना सम्मान्य है, परंतु माता, पिता से हज़ारगुनी सम्माननीय है। उनकी क़ानूनी स्थिति भी कम नहीं थी। उनकी व्यक्तिगत संपत्ति के लिए राज-नियम बने हुए थे। उन्हें भी जायदाद मिल सकती थी। इस विषय में कुछ विस्तार से आगे लिखा जायगा।

---

[1] **'अलबेरूनीज़ इंडिया', जिल्द १, पृ० १५५**

द्वितीय व्याख्यान

साहित्य

प्राचीन भारत का वाङ्मय बहुत विस्तृत, गंभीर तथा उन्नत था। सभी विषयों की तरफ़ भारतीय विद्वानों का पूरा ध्यान था। साहित्य, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित, विज्ञान, कलाकौशल आदि सभी विषय उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचे हुए थे। हम यहाँ क्रमशः इन विषयों की उन्नति का कुछ परिचय देने का यत्न करेंगे। यहाँ एक बात कह देना आवश्यक है कि प्राचीन काल में साहित्य से केवल ललित-साहित्य, काव्य, नाटक, कथा, उपन्यास, अलंकार आदि विषय ही अभिप्रेत थे, परंतु आजकल साहित्य शब्द बहुत व्यापक होकर वाङ्मय के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है, जिससे विद्या-संबंधी समस्त विषय उसके अंतर्गत हो जाते हैं।

हमारे निर्दिष्ट समय का साहित्य भाषा-संबंधी दृष्टि से तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—संस्कृत का साहित्य सबसे अधिक संपन्न है। उस समय संस्कृत ही राजकीय भाषा थी। राज्यकार्य इसीमें होता था। शिलालेख, ताम्रपत्र आदि भी प्रायः इसीमें लिखे जाते थे। इसके अतिरिक्त संस्कृत संपूर्ण भारतवर्ष के विद्वानों की भाषा थी, इस कारण भी संस्कृत का प्रचार प्रायः संपूर्ण भारत में था।

२—प्राकृत भाषा का सर्वसाधारण में प्रचार था। यही बोलचाल की भाषा थी। इसका भी साहित्य बहुत उन्नत था।

३—दक्षिण भारत की तरफ़ यद्यपि पंडितों में संस्कृत का प्रचार था, तथापि वहाँ की बोलचाल की भाषा द्राविड़ी थी, जिसमें तामिल, तेलगू, मलयालम, कनड़ी आदि भाषाओं का समावेश होता है। इनका साहित्य भी हमारे समय में उन्नत हुआ। अब हम क्रमशः इन तीनों भाषाओं के साहित्य पर विचार करते हैं।

ललित-साहित्य

संस्कृत साहित्य के विकास की प्रगति—साहित्य की दृष्टि से हमारा निर्दिष्ट समय बहुत उन्नत है। हमारे समय से पूर्व संस्कृत साहित्य का विकास

हो चुका था, पर इसकी वृद्धि हमारे समय में भी जारी रही। हम इस समय अन्य भाषाओं के विकास की तरह संस्कृत में भाषा नियम-संबंधी या शब्दों के रूप-संबंधी परिवर्तन नहीं पाते। इसका एक कारण है। इस समय से बहुत पूर्व—६०० ई० पूर्व के आसपास—आचार्य पाणिनि ने अपने व्याकरण के जटिल नियमों द्वारा संस्कृत को जकड़ दिया। पाणिनि के इन नियमों को तोड़ने का साहस संस्कृत के किसी कवि ने नहीं किया, क्योंकि हमारे पूर्वज पाणिनि को एक महर्षि समझते थे और उसमें उनकी अगाध भक्ति थी। उसके नियमों को तोड़ना वे पाप समझते थे। यह प्रवृत्ति हम लोगों में बहुत प्राचीन काल से चली आती है, तभी तो महाभाष्यकार ने पाणिनि के सूत्रों में कुछ स्थलों पर त्रुटियाँ दिखाते हुए भी अपने को पाणिनि के रहस्यों को समझ सकने में असमर्थ कहकर उसका आदर किया है। इस समय संस्कृत में लालित्य लाने की बहुत कोशिश की गई। इसका शब्द-भांडार बहुत बढ़ा। संस्कृत की भिन्न-भिन्न लेखन-शैलियाँ आविष्कृत हुईं। यह विकास ६०० ई० से नहीं, इससे बहुत पूर्व प्रारंभ हो चुका था। कविकुल-चूड़ामणि कालिदास, भास, अश्वघोष आदि भी अपने काव्यों द्वारा तत्कालीन साहित्य को सुसंपन्न कर चुके थे। महाभारत और रामायण भी उनसे पूर्व बन चुके थे, परंतु यह विकास यहीं तक नहीं रुक गया था। यह उन्नति बहुत समय तक जारी रही और हम देखते हैं कि ६०० ई० के बाद भी यह उन्नति-क्रम उसी तरह चलता रहा। हमारे निर्दिष्ट काल में सैकड़ों काव्य (गद्य और पद्य), नाटक, उपन्यास, कथाएँ एवं आख्यायिकाएँ लिखी गईं।

तत्कालीन साहित्य के कुछ उत्कृष्ट काव्य—भारतीय साहित्य के जितने ग्रंथ आज विद्यमान् हैं, केवल उन्हें देखकर हम तत्कालीन साहित्य की उन्नति का ठीक-ठीक अनुमान नहीं कर सकते। उस समय के लिखे हुए सैकड़ों संस्कृत ग्रंथ-रत्न नष्ट हो चुके हैं और बहुत से ऐसे गुप्त स्थानों में पड़े होंगे, जिनका अभी तक किसी को पता भी नहीं। आज जो ग्रंथ दैव की कृपा से बच गए हैं, उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। फिर भी हमारे पास तत्कालीन संस्कृत साहित्य की स्थिति को जानने के लिए जो ग्रंथ बचे हैं, वे पर्याप्त हैं।

इस समय उपलब्ध तत्कालीन काव्यादि साहित्य से पता लगता है कि उस समय का बहुत सा ऐसा साहित्य रामायण और महाभारत की घटनाओं से भरा हुआ है। यदि हम रामायण और महाभारत की कथाओं से संबद्ध सब पुस्तकों को अलग कर दें, तो अवशिष्ट पुस्तकों की संख्या बहुत थोड़ी रह जायगी। यहाँ हम संस्कृत के कुछ उत्कृष्ट काव्यों का परिचय देते हैं।

'किरातार्जुनीय'—इसका कर्ता भारवि सातवीं सदी में हुआ था। इसका संबंध महाभारत की घटनाओं से है। यह काव्य केवल साहित्य की दृष्टि से ही नहीं, नीतिशास्त्र की दृष्टि से भी एक उत्कृष्ट ग्रंथ है। अर्थगौरव इसका विशेषगुण है। इसके अंतिम भाग में कवि ने शब्द-वैचित्र्य के बहुत अद्भुत और उत्तम उदाहरण दिए हैं। एक श्लोक में तो 'न' के सिवा और कोई अक्षर ही नहीं, सिर्फ़ अंत में एक 'त्' है[1]।

'अमरुशतक' भी एक उच्चकोटि का काव्य है। इसके विषय में प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर मैक्डानल ने लिखा है कि इस पुस्तक का लेखक प्रेमियों की प्रसन्नता और दुःख, क्रोध तथा भक्ति के भावों को दिखाने में सिद्धहस्त है।

'भट्टिकाव्य'—इसमें भट्टिने, जो वलभी के राजा धरसेन का आश्रित था, साहित्य के रूप में शुष्क व्याकरण के रूप सिखाने के साथ-साथ राम की कथा का वर्णन किया है।

'शिशुपालवध'—इसमें कृष्ण द्वारा शिशुपाल के वध की कथा है। इसका कर्ता माघ कवि सातवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ था। इस काव्य में रचना-सौंदर्य के साथ उपमा, अर्थगौरव एवं पदलालित्य का अच्छा चमत्कार है। इसकी कविता के विषय में प्रसिद्ध है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दंडिनः पदलालित्यं माघे संति त्रयो गुणाः ॥

'नलोदय'—इसमें नलदमयंती की कथा है। इसकी वर्णनशैली और

---

[1] **न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।**
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेनानुन्ननुन्ननुत् ॥
किरातार्जुनीय, सर्ग १५, श्लोक १४

छंदों की विविधता विशेष महत्व की है। तुकों का चमत्कार इसकी एक विशेषता है। वे केवल अंत में नहीं मध्य में भी आए हैं। यह ग्रंथ संस्कृत साहित्य में एक नई चीज़ है।

'राघवपांडवीय'—इसका कर्ता कविराज (८०० ईस्वी के क़रीब) हुआ। इस ग्रंथ में रामायण और महाभारत की घटनाओं का साथ-साथ वर्णन किया गया है। प्रत्येक श्लोक के दो अर्थ होते हैं। एक रामायण की कथा बतलाता है, तो दूसरा महाभारत की। इस शैली के और भी काव्य मिलते हैं।

'पार्श्वाभ्युदयकाव्य'—यह ग्रंथ जैन आचार्य जिनसेन ने दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष (नवीं सदी) के समय में लिखा। इसकी विशेषता यह है कि पार्श्वनाथ के चरित के साथ कहीं अंतिम पंक्ति, कहीं पहली और चौथी, कहीं पहली और तीसरी पंक्ति तथा कहीं दूसरी और तीसरी पंक्ति मेघदूत से ली गई है। इस प्रकार अपने बृहत् काव्य में उसने संपूर्ण मेघदूत का समावेश कर लिया है; और अपनी कथा में कोई अंतर पड़ने नहीं दिया। इस पुस्तक से समस्त मेघदूत के तत्कालीन पाठ का निर्णय हो सकता है।

वैसे तो संस्कृत का प्रायः संपूर्ण पद्य-साहित्य गाया जा सकने के कारण गेय काव्य ('लिरिक पोएट्री') कहा जा सकता है, परंतु जयदेव का बारहवीं शताब्दी में बनाया हुआ 'गीतगोविंद' गेय कविता का उत्कृष्ट ग्रंथ है। कवि ने इसमें कठिन छंदों में अत्यंत उत्तम शब्द-विन्यास की पूर्णता दिखाई है। अपनी अनुपम चतुरता से, अनुप्रास और तुकों से, उसने कविता को बहुत ही अधिक मधुर और भावोत्तेजक बना दिया है, जो भिन्न-भिन्न रागों में गाई जा सकती है। इस काव्य की बड़े-बड़े पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और कइयों ने तो इसमें गेय कविता की पराकाष्ठा मान ली है।

इनके अतिरिक्त बहुत से संस्कृत काव्य हमारे निर्दिष्ट समय में लिखे गए, जिनमें से कुछ एक के नाम नीचे दिए जाते हैं। प्रसिद्ध कवि क्षेमेंद्र ने 'रामायणमंजरी', 'भारतमंजरी', 'दशावतारचरित', 'समयमातृका', 'जातकमाला', 'कविकंठाभरण', 'चतुर्वर्गसंग्रह' आदि छोटे-बड़े अनेक ग्रंथ लिखे। कुमारदास का 'जानकीहरण', हरदत्त-विरचित 'राघवनैषधीय',

मंखकवि-लिखित 'श्रीकंठचरित', हर्ष-कृत 'नैषधचरित', वस्तुपाल-विनिर्मित 'नरनारायणानंदकाव्य', राजानक जयरथ-प्रणीत 'हरचरितचिंतामणि', राजानक रत्नाकर का 'हरविजय महाकाव्य', दामोदर-विरचित 'कुट्टिनीमत', वाग्भट्ट-कृत 'नेमिनिर्माण', धनंजय श्रेष्ठि का 'द्विसंधान महाकाव्य', संध्याकरनंदी का 'रामचरित', विल्हण-प्रणीत 'विक्रमांकदेवचरित', पद्मगुप्त-प्रणीत 'नवसाहसांकचरित', हेमचंद्र का 'द्व्याश्रय महाकाव्य', जयानक-रचित 'पृथ्वीराजविजय', सोमदेव-कृत 'कीर्तिकौमुदी' और कल्हण-विनिर्मित 'राजतरंगिणी' आदि सैकड़ों काव्य हैं। इनमें से अंतिम सात ऐतिहासिक ग्रंथ हैं।

सुभाषित-संग्रह—हमारे समय में सुभाषितों—भिन्न-भिन्न विषयों के उत्तम श्लोकों—के कई संग्रह भी हो चुके थे। अमितगति (९९३ ई०) के 'सुभाषितरत्नसंदोह' और वल्लभदेव (ग्यारहवीं शताब्दी) की 'सुभाषितावलि'[1] के अतिरिक्त एक बौद्ध विद्वान् का सुभाषितसंग्रह भी मिला है, जो प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डा० टामस ने 'कवींद्रवचनसमुच्चय' नाम से प्रकाशित किया है। इस ग्रंथ की बारहवीं शताब्दी की लिखी हुई एक प्रति मिली है। इस ग्रंथ का तथा ग्रंथ के लेखक का नाम अभी तक अज्ञात है।

गद्यकाव्य—साहित्य में कथाओं और आख्यायिकाओं का भी एक विशेष स्थान है। हम देखते हैं कि हमारे निर्दिष्ट काल में इस ओर भी संस्कृत के विद्वान् कवियों ने उपेक्षा नहीं की। छोटी-छोटी कथाओं की पद्धति भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आती थी। बौद्धों और जैनों के धर्मग्रंथों के निर्माण-काल तक इस पद्धति का पूर्ण विकास हो चुका था। ६०० ई० से पूर्व बहुत सी कथाएँ बन चुकी थीं, जिनका महाभारत और पुराणों आदि में समावेश है। उस समय तक प्रसिद्ध पंचतंत्र भी बन चुका था। इसके बनने का निश्चित समय हम नहीं बतला सकते। हाँ, ५७० ईस्वी में इसका पहलवी भाषा में अनुवाद हो चुका था। यह ग्रंथ इतना प्रसिद्ध हुआ कि

---

[1] **कई विद्वान् इस ग्रंथ को चौदहवीं शताब्दी का बना हुआ मानते हैं, परंतु यह ठीक नहीं। सर्वानंद ने, जो १०८१ शक संवत् (११५९ ई०) में हुआ था, अमरकोश की 'टीकासर्वस्व' नाम की टीका में 'सुभाषितावलि' के अंश उद्धृत किए हैं।**

इसके अरबी और सीरियन भाषा में भी अनुवाद हो गए। इसके सिवा हमारे समय के बहुत पूर्व गुणाढ्य नामक विद्वान् द्वारा पैशाची में लिखी गई 'वृहत्कथा' भी विद्यमान थी, ऐसा दंडी, सुबंधु और बाण के निर्देशों से पाया जाता है। क्षेमेंद्र ने 'वृहत्कथामंजरी' के नाम से १०३७ ई० के आस-पास इसका संस्कृत में अनुवाद किया था। पंडित सोमदेव ने भी 'कथा-सरित्सागर' के नाम से इसका अनुवाद (१०६३—१०८१ के बीच में) किया था। 'बृहत्कथा' का तीसरा रूप भी 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के नाम से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त 'वैतालपंचविंशति' और 'सिंहासन-द्वात्रिंशतिका', 'शुकसप्तति' आदि कथाओं के कई छोटे-छोटे संग्रह मिलते हैं, जो हमारे समय में भी प्रसिद्ध थे। इन अनुवादों से भारतीय कथाओं का यूरोप में भी प्रवेश हो गया और वहाँ भी ये कथाएँ प्रचलित हो गईं। यही कारण है कि हम बहुत सी अरबी कथाओं में भारतीय कथाओं से काफ़ी समानता पाते हैं।

छोटी-छोटी कथाओं के इन संग्रहों के अतिरिक्त कई एक गद्य उपन्यास या आख्यायिकाएँ भी लिखी गईं। यद्यपि ये ग्रंथ गद्य में हैं तथापि इनकी वर्णन-शैली प्रायः पद्य-काव्यों की ही है। अलंकार, शब्दवैचित्र्य तथा अनु-प्रासादि की इसमें भी बहुलता है। समास और श्लेषादि अलंकार बहुत होने के कारण इनकी भाषा कहीं-कहीं क्लिष्ट हो गई है। इनसे तात्कालिक सभ्यता, रहन-सहन आदि पर बहुत प्रकाश पड़ता है। दंडी कवि के बनाए हुए 'दशकुमारचरित' से हमें तत्कालीन रीति-रिवाज, साधारण सभ्यता, राजा आदि विशिष्ट पुरुषों के व्यवहार संबंधी बहुत सी ज्ञातव्य बातें मालूम होती हैं। सुबंधु-रचित 'वासवदत्ता' भी संस्कृत साहित्य में एक अनोखा ग्रंथ है, परंतु बहुधा प्रत्येक शब्द पर श्लेषों की भरमार होने के कारण वह विशेष क्लिष्ट हो गया है। कहीं-कहीं तो एक ही वाक्य या वाक्यखंड के ६-७ या उनसे भी अधिक अर्थ होते हैं। कवि ने अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिए भले ही उसकी ऐसी रचना की हो, परंतु साधारण पाठकों के लिए तो वह बहुत नीरस ग्रंथ है और टीका के बिना तो उन्हें जगह-जगह पर रुकना पड़ता है। इसके अनंतर हम प्रसिद्ध कवि बाण के 'हर्षचरित' और 'कादंबरी' को

देखते हैं। 'हर्षचरित' एक ऐतिहासिक (हर्षचरित-संबंधी) गद्यकाव्य है। इससे हर्षकालीन इतिहास जानने में बहुत सहायता मिली है। इसकी भाषा क्लिष्ट और समासबहुल है। इसका शब्दभांडार बहुत ही अधिक है। काव्य और भाषा की दृष्टि से 'कादंबरी' सर्वोत्कृष्ट है। इसकी भाषा क्लिष्ट नहीं और इसमें लालित्य पहले ग्रंथ से अधिक है। इसे पूर्ण करने से पहले ही बाण का देहांत हो गया। उसका उत्तरार्ध बाण के पुत्र पुलिन भट्ट (पुलिंद) ने लिखकर पूरा किया। बाण और उसके पुत्र ने संस्कृत गद्य लिखने में जो भाषा का सौष्ठव प्रदर्शित किया है, वह किसी अन्य लेखक के ग्रंथ में नहीं पाया जाता। इसी से पंडितों में यह कहावत प्रसिद्ध है—"बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।" सोढ्ढल की 'उदयसुंदरीकथा' और धनपाल की 'तिलकमंजरी' भी उत्कृष्ट गद्यकाव्य हैं।

चंपू—संस्कृत साहित्य में चंपू ग्रंथों (गद्य-पद्यात्मक काव्यों) का भी विशेष स्थान है। सब से प्रसिद्ध चंपू 'नलचंपू' है जिसे त्रिविक्रम भट्ट ने ९१५ ई० के आस-पास बनाया था। सोमदेव का 'यशस्तिकल' भी उत्कृष्ट चंपू है। राजा भोज ने 'चंपूरामायण' की रचना की पर उसके केवल पाँच कांड ही लिख जा सके।

नाटक—नाटकों का प्रचार भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से था और पाणिनि से, जो ई० सन् पूर्व की छठी शताब्दी में हुआ, पूर्व ही उसके नियम-ग्रंथ भी बन चुके थे। पाणिनि ने शिलाली और कृशाश्व के नट-सूत्रों का नाम भी दिया है। पीछे से भरत ने 'नाटयशास्त्र' भी लिखा। हमारे काल से पूर्व भास, कालिदास अश्वघोषादि प्रसिद्ध नाटक-लेखक हो गए थे। हमारे समय में भी बहुत से नाटक बने।

महाराजा शूद्रक का बनाया हुआ 'मृच्छकटिक' भी बहुत उच्च कोटि का नाटक है। इसमें जीवन-शक्ति और कर्मण्यता के भाव बहुत अच्छी तरह दिखाए गए हैं। कन्नौज के प्रसिद्ध राजा हर्षवर्द्धन ने 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' नाम के नाटक लिखे। इनमें पात्रों का चरित्र-चित्रण तथा वस्तु का विन्यास बहुत उत्तमता से किया गया है। उसका तीसरा नाटक 'नागानंद' है, जिसकी प्रोफ़ेसर मैक्डानल आदि विद्वानों ने बहुत प्रशंसा की है।

नाटक लिखने में महाकवि कालिदास की प्रतिस्पर्धा करनेवाला भवभूति भी इसी निर्दिष्ट काल (आठवीं शताब्दी) में हुआ। भवभूति बरार का रहनेवाला एक ब्राह्मण था। उसके तीन नाटक—'मालतीमाधव', 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित'—मिलते हैं। इन तीनों नाटकों में अपनी-अपनी विशेषता है। 'मालतीमाधव' में शृंगाररस, 'महावीरचरित' में वीररस और 'उत्तररामचरित' में करुणरस का उत्कर्ष है, परंतु करुणरस के प्रदर्शन में भवभूति सबसे बढ़ गया है। उसकी कल्पनाशक्ति बहुत प्रशंसनीय है। बड़े-बड़े वाक्य होने के कारण उसके नाटक रंगभूमि के लिए वैसे अच्छे नहीं हैं, जैसे कि भास और कालिदास के हैं। हमारे समय का होने पर भी भट्टनारायण का समय निश्चित रूप से मालूम नहीं हो सका। उसका 'वेणीसंहार' एक उत्तम नाटक है। इसमें महाभारत के युद्ध का वर्णन है। वीररस इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। 'मुद्राराक्षस' का कर्ता विशाखदत्त भी ८०० से पीछे नहीं हुआ। यह नाटक अपने ढंग का एक ही है। यह बिलकुल राजनीतिक है। राजशेखर ने भी, जो कन्नौज के राजा महेंद्रपाल और महिपाल के पास रहता था, कई नाटक लिखे। यह संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रकांड पंडित था। उसने अपने नाटकों में कई नए छंदों की रचना की है। कहावतों का भी उसने बहुत जगह प्रयोग किया है। उसके 'बालरामायण' और 'बालभारत' नाटकों का विषय तो नाम से ही स्पष्ट है। उसका तीसरा ग्रंथ 'विद्धशालभंजिका' एक उत्तम हास्यरसपूर्ण नाटिका है। कवि दामोदर ने, जो ८५० ई० से पूर्व हुआ था, 'हनुमन्नाटक' या 'महानाटक' लिखा, जिसे नाटक कहने की अपेक्षा काव्य कहना अनुचित न होगा। इसमें प्राकृत का कहीं भी उल्लेख नहीं है। कृष्णमिश्र कवि (११०० ई०) ने 'प्रबोधचंद्रोदय' नामक एक बहुत उत्कृष्ट नाटक लिखा। यह अलंकारात्मक तथा भावात्मक नाटक है। नैतिक और दार्शनिक दृष्टि से यह बहुत ही उत्तम है। इसमें शांति, क्षमा, काम, लोभ, क्रोध, दंभ, अहंकार, मिथ्यादृष्टि आदि पात्र रक्खे गए हैं। यह नाटक ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपयोगी है।

हमने ऊपर कुछ नाटकों का परिचय दिया है। इनके अतिरिक्त भी बहुत से नाटक हमें मिलते हैं, जिनमें से मुरारि-कृत 'अनर्घराघव', विल्हण-

रचित 'कर्णसुंदरी' (नाटिका), चंदेल राजा परमर्दिदेव के मंत्री वत्सराज-कृत छः रूपक—'किरातार्जुनीय' (व्यायोग), 'कर्पूरचरित' (भाण), 'रुक्मिणीपरिणय' (ईहामृग), 'त्रिपुरदाह' (डिम), 'हास्यचूडामणि' (प्रहसन) और 'समुद्रमथन' (समवकार); चौहान राजा विग्रहराज का लिखा हुआ 'हरकेलि नाटक', सोमेश्वर-विरचित 'ललितविग्रहराज नाटक', परमार राजा धारावर्ष के भाई प्रह्लादन देव का 'पार्थपराक्रम' (व्यायोग) आदि द्रष्ठव्य हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से और भी नाटक लिखे गए, जिनके नाम हम विस्तारभय से नहीं देते।

ध्वनि, अलंकार आदि साहित्य के अंग—साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों की उन्नति हमारे समय तक हो चुकी थी। ध्वनि, अलंकार, रस आदि साहित्य के उपयोगी और आवश्यक अंगों पर भी हमारे समय में कई ग्रंथ लिखे गए थे। श्रीमम्मटाचार्य ने 'काव्यप्रकाश' लिखा, परंतु वह उसे पूर्ण न कर सका, इसलिए उसका शेष भाग अलख (अल्लट) सूरि ने लिखा। इसके सिवा भी कई ग्रंथ लिखे गए, जिनमें से गोवर्धनाचार्य का 'ध्वन्यालोक', भामह का 'अलंकारशास्त्र', राजशेखर-कृत 'काव्यमीमांसा', हेमचंद्र-रचित 'काव्यानुशासन', वाग्भट-लिखित 'काव्यानुशासन' और 'वाग्भटालंकार', उद्भट-निर्मित 'काव्यालंकारसंग्रह', रुद्रट का 'काव्यालंकारसंग्रह' और भोजरचित 'सरस्वती-कंठाभरण' मुख्य हैं। छंदःशास्त्र तो वेद का अंग समझा जाता है। इस पर भी अनेक उत्कृष्ट ग्रंथ लिखे गए, जिनमें पिंगलाचार्य का 'पिंगलछंदसूत्र' सब से अधिक प्राचीन है। हमारे समय में भी इस प्रशस्ति से संबंध रखनेवाले कई ग्रंथ लिखे गए, जिनमें से दामोदर मिश्र का 'वाणीभूषण', हेमचंद्र-कृत 'छंदोनुशासन', और क्षेमेंद्र कृत 'सुवृत्ततिलक' उल्लेख्य हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि हमारे सैकड़ों काव्य, नाटक, उपन्यासादि इस अंधकारमय दीर्घकाल के प्रभाव से मुसलमान शासकों के राजत्वकाल में नष्ट हो गए। जितने उपलब्ध भी हैं, उनमें से हमने कुछ का परिचय मात्र दिया है। संभव है, खोज से कई उत्तम और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व-पूर्ण ग्रंथों का और भी पता लगे।

तत्कालीन काव्य-साहित्य का सिंहावलोकन--६०० से १२०० ई० तक के संस्कृत साहित्य पर सरसरी नज़र डालने से पता लगता है कि वह समय संस्कृत साहित्य की दृष्टि से उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा हुआ था। काव्य, अलंकार, छंदःशास्त्र, नाटक आदि सभी अंग उन्नति करते हुए नज़र आते हैं। इन साहित्य-ग्रंथों में केवल प्रेम की कथाएँ ही नहीं, किंतु वीर, करुण आदि अन्य रसों का भी पूरा विकास देख पड़ता है। नीति और शिक्षा की दृष्टि से भी ये ग्रंथ कम महत्व के नहीं हैं। भारवि का 'किरातार्जुनीय' राजनीति-शास्त्र की दृष्टि से अपूर्व ग्रंथ है। बाण के 'कादंबरी' और 'हर्षचरित' में दिए गए उपदेश अपना सानी नहीं रखते। काव्य-चमत्कार तो हम प्रायः काव्य में थोड़ा-बहुत अवश्य पाते हैं।

कविता भारतीय आर्यों की अत्यंत प्रिय वस्तु थी। केवल काव्य से संबंध रखनेवाले ग्रंथ ही कविता में नहीं लिखे गए, परंतु वैद्यक, ज्योतिष, व्याकरण, अंकगणित, बीजगणित (इनके प्रश्न और उदाहरण तक) आदि अनेक विषयों के ग्रंथ भी छंदों में ही लिखे गए। इतना ही नहीं, हम देखते हैं कि गुप्तवंशी राजाओं के सिक्कों पर भी कविता-बद्ध लेख अंकित हैं। इतने प्राचीन काल में संसार के किसी भी देश में सिक्कों पर कविताबद्ध लेख नहीं लिखे जाते थे।

व्याकरण

प्राचीन काल में व्याकरण को बहुत महत्व दिया जाता था। वेद के छः अंगों में व्याकरण ही प्रथम और प्रधान समझा जाता था। ६०० ई० तक व्याकरण बहुत उन्नत हो चुका था। पाणिनि के व्याकरण पर कात्यायन और पातंजलि अपने वार्तिक और महाभाष्य लिख चुके थे। शर्ववर्मा का 'कातंत्रव्याकरण' भी, जो प्रारंभिक विद्यार्थियों के लिए लिखा गया था, बन चुका था। इस पर सात टीकाएँ मिल चुकी हैं। हम देखते हैं कि व्याकरण बहुत समय तक हिंदुओं में मुख्य विषय बना रहा। पंडित होने के लिए व्याकरण का प्रकांड विद्वान् होना आवश्यक समझा जाता था। हमारे इस निर्दिष्ट काल में भी व्याकरण-विषयक कई उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखे गए। सबसे

प्रथम पंडित जयादित्य और वामन ने ६६२ ई० के आसपास 'काशिकावृत्ति' नाम से पाणिनि के सूत्रों पर भाष्य लिखा, जो बहुत उत्तम तथा उपयोगी ग्रंथ है। भर्तृहरि ने भाषाशास्त्र की दृष्टि से व्याकरण पर 'वाक्यप्रदीप' नाम का बृहद् ग्रंथ तथा 'महाभाष्यदीपिका' और 'महाभाष्यत्रिपदी' व्याख्यान लिखे। उस समय तक उणादि सूत्र भी बन चुके थे, जिनकी टीका १२५० ई० में उज्ज्वलदत्त ने की। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर लिखे गए ग्रंथों के अतिरिक्त भी कई स्वतंत्र व्याकरण बने। चंद्रगोमिन ने ६०० ई० के क़रीब 'चांद्रव्याकरण' लिखा। उसने इसमें पणिनि के सूत्रों और महाभाष्य का भी कुछ उपयोग किया है। इसी तरह जैन शाकटायन ने नवीं शताब्दी में एक व्याकरण लिखा। प्रसिद्ध जैन-आचार्य हेमचंद्र ने अपनी तथा अपने समय के राजा सिद्धराज की स्मृति स्थिर रखने के लिए शाकटायन के व्यारण से भी अधिक विस्तृत 'सिद्धहेम' नामक व्याकरण लिखा। जैन होने के कारण उसने वैदिकभाषा-संबंधी नियमों का वर्णन नहीं किया। इनके सिवा व्याकरण से संबंध रखने वाले कुछ और भी छोटे-छोटे ग्रंथ लिखे गए, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—वर्धमान-प्रणीत 'गणरत्नमहोदधि,' भासर्वज्ञ-कृत 'गणकारिका,' वामन-विरचित 'लिंगानुशासन', हेमचंद्र-लिखित 'उणादि-सूत्रवृत्ति', 'धातुपाठ', 'धातुपारायण', 'धातुमाला', 'शब्दानुशासन' आदि।

कोष

हम ऊपर लिख चुके हैं कि संस्कृत साहित्य के विकास की दिशा भाषा-परिवर्तन की ओर नहीं थी। उसकी दिशा शब्द-भंडार बढ़ाने, भाषा में लालित्य तथा अलंकार लाने की तरफ़ थी। इस काल में संस्कृत साहित्य का शब्द-भंडार बहुत बढ़ता गया। उसके बढ़ने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि संस्कृत के कोष भी बने। कुछ कोष ऐसे हैं, जिनमें एक नाम के तमाम पर्यायवाची शब्द इकट्ठे दिए गए हैं और कुछ ऐसे हैं, जिनमें एक शब्द के सब अर्थ इकट्ठे दिए गए हैं। कई कोषों में शब्दों के लिंग भी बताए गए हैं। अमरसिंह का बनाया हुआ छंदोबद्ध 'अमरकोष' बहुत प्रसिद्ध है, जो हमारे समय के प्रारंभ के आसपास का बना हुआ है। यह कोष इतना लोकप्रिय

हुआ कि इस पर करीब ५० टीकाएँ लिखी गईं। उनमें से अब कुछ का ही पता लगता है, जिनमें से भट्ट क्षीरस्वामी की, जो संभवतः १०५० ई० के करीब हुआ, टीका विशेष प्रसिद्ध है। पुरुषोत्तमदेव ने 'त्रिकांडशेष' के नाम से अमरकोष का एक परिशिष्ट लिखा। यह बहुत ही उपयोगी कोष है, क्योंकि इसमें बौद्ध संस्कृत तथा अन्य प्राकृत भाषाओं के भी शब्द हैं। इसके लेखक ने 'हारावली' नामक भी एक कोष लिखा, जिसमें बहुत से ऐसे कठिन शब्दों का समावेश किया गया जिनका उससे पहले के ग्रंथों में उल्लेख नहीं मिलता। इसका भी समय ७०० से पीछे नहीं माना जा सकता। शाश्वत का लिखा 'अनेकार्थसमुच्चय' भी बहुत उपयोगी कोष है। हलायुध ने ९५० ई० के क़रीब 'अभिधानरत्नमाला' लिखी। इसमें कुल ९०० श्लोक हैं। दक्षिणी विद्वान् यादव भट्ट का 'वैजयंतीकोष' भी बहुत अच्छा है। इसमें शब्द, अक्षरों की संख्या और लिंग के साथ-साथ अकारादि क्रम के अनुसार लिखे गए हैं। इनके अतिरिक्त धनंजय-कृत 'नाममाला', महेश्वर-विनिर्मित 'विश्वप्रकाश' और मंखकवि-रचित 'अनेकार्थकोष' लिखे गए। हेमचंद्र का 'अभिधान-चिंतामणिकोष' भी बड़े महत्व का है, जो उसी के कथनानुसार उसके व्याकरण का परिशिष्ट है। फिर उसने इस कोष के परिशिष्ट के रूप में वनस्पति-शास्त्र-संबंधी शब्दों का ३९६ श्लोकों में 'निघंटुकोष' लिखा। उसने 'अनेकार्थ-संग्रह' भी लिखा। १२०० के क़रीब केशवस्वामी ने 'नानार्थसंकल्प' नामक एक कोष लिखा।

दर्शन

हमारा निर्दिष्ट काल दार्शनिक दृष्टि से उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ था। इस समय से पूर्व भारत में दर्शन के छः प्रसिद्ध संप्रदायों—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदांत)—का पूर्ण विकास हो चुका था। पाणिनि ने न्याय से नैयायिक शब्द बनने का निर्देश किया है। सभी संप्रदाय उन्नति के शिखर पर थे। इनके अतिरिक्त बौद्ध और जैन-दर्शन भी बहुत बढ़े-चढ़े थे। राष्ट्र की समृद्धि, राज्य में सुख और शांति तथा जनता को पेट भरने की चिंता न रहने आदि का यह तो

स्वाभाविक परिणाम है कि देश में दार्शनिक उन्नति हो। ६०० ई० से पूर्व तक छहों संप्रदायों के मुख्य-मुख्य सूत्र-ग्रंथों का निर्माण हो चुका था और उन पर प्रामाणिक तथा उपयोगी भाष्य भी लिखे जा चुके थे।

न्यायदर्शन—न्यायदर्शन वह शास्त्र है, जिसमें किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए विचारों की उचित योजना का निरूपण रहता है। न्यायदर्शन के अनुसार सोलह पदार्थों—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—के सम्यक् ज्ञान के द्वारा अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। आप्त (साक्षात्कृत-धर्मा) का शब्द ही प्रमाण है। अदृष्टार्थ में केवल वेद ही प्रमाण है। वेद ईश्वरकृत हैं, इससे उनके वाक्य सदा सत्य और विश्वसनीय हैं। प्रमेय (जानने योग्य पदार्थ) बारह हैं—

(१) आत्मा—सब वस्तुओं का देखनेवाला, भोग करनेवाला, जानने वाला और अनुभव करनेवाला।

(२) शरीर—भोगों का आयतन।

(३) इंद्रियाँ—भोगों के साधन।

(४) अर्थ—भोग्य पदार्थ।

(५) बुद्धि।

(६) मन।

(७) प्रवृत्ति—मन, वचन और शरीर का व्यापार।

(८) दोष—जिसके कारण सांसारिक कार्यों में प्रवृत्ति होती है।

(९) पुनर्जन्म।

(१०) फल—सुख या दुःख का अनुभव।

(११) दुःख।

(१२) अपवर्ग या मोक्ष।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के लिंग (अनुमान के साधन-चिह्न या हेतु) हैं। आत्मा ही कर्ता और भोक्ता है। संसार को

बनानेवाला आत्मा ही ईश्वर (परम आत्मा) है। ईश्वर में भी आत्मा के समान संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि गुण हैं, परंतु नित्य रूप से। पूर्वजन्म में किए हुए कर्मों के अनुसार शरीर उत्पन्न होता है। पंचभूतों से इंद्रियों की उत्पत्ति होती है और परमाणुओं के योग से सृष्टि।

ऊपर लिखे हुए इस सिद्धांत-परिचय से ज्ञात होता है कि हमारा न्याय-शास्त्र केवल तर्कशास्त्र नहीं है, किंतु प्रमेयों का विचार करनेवाला दर्शनशास्त्र है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र ('लाजिक') से इसका यही भेद है।

आचार्य गौतम के न्याय-सूत्रों के प्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन के 'न्याय-सूत्रभाष्य' की टीका उद्योतकर ने सातवीं सदी के प्रारंभ में लिखी। यह टीका नैयायिक संप्रदाय में बहुत अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। वासवदत्ताकार सुबंधु ने मल्लनाग, न्यायस्थिति, धर्मकीर्ति और उद्योतकर इन चार नैयायिकों का उल्लेख किया है। संभवतः ये सब सातवीं सदी के प्रारंभ के आसपास हुए होंगे। उद्योतकर की टीका वाचस्पति मिश्र ने की, जिसकी भी टीका उदयनाचार्य ने 'तात्पर्यपरिशुद्धि' नाम से लिखी। ९८४ ई० के आसपास अन्य उदयन ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'कुसुमांजलि' लिखा। इसमें उसने न्याय के दृष्टिकोण से ईश्वर की सत्ता सिद्ध की है। आस्तिकवाद के लिखे हुए संसार के उत्तम ग्रंथों में यह भी एक माना जाता है। उदयन की तर्कशैली और प्रतिपादनविधि अत्यंत विद्वत्तापूर्ण और आश्चर्यजनक है। इसमें उसने मीमांसकों के नास्तिकवाद के सिद्धांत तथा वेदांतियों, सांख्यों और बौद्धों के सत्कार्यवाद (कारण में कार्य का पूर्व से विद्यमान रहना) का, जिसको परिणामवाद भी कहते हैं, बहुत अच्छी तरह खंडन किया है। उसने बौद्धदर्शन के विरोध में भी एक पुस्तक (बौद्धधिक्कार) लिखी। ये सब ग्रंथ प्राचीन न्याय से संबंध रखते हैं।

६०० ई० के क़रीब से नैयायिक-संप्रदाय में जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने भी पर्याप्त उन्नति शुरू कर दी थी। इनकी न्याय-शैली प्राचीन शैली से भिन्न थी। इसका विकास आठवीं सदी के आस-पास हुआ। यह 'मध्य-कालीन न्याय' कहा जाता है। बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग ने इसे प्रचलित किया। नालंद में रहनेवाले धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति ने सातवीं सदी में

'न्यायबिंदु' नामक ग्रंथ लिखा, जिस पर धर्मोत्तर ने ८०० ई० के आसपास एक टीका लिखी। जैन विद्वान् हेमचंद्र ने सूत्र-शैली पर 'प्रमाणमीमांसा' लिखी। इस मध्यकालीन संप्रदाय की अधिक पुस्तकें नहीं मिलतीं, परंतु तिब्बत में बौद्धों के न्याय-संबंधी कई संस्कृत ग्रंथों के तिब्बती अनुवाद मिलते हैं, जिनके मूलग्रंथ अब उपलब्ध नहीं हैं।

नवीन न्याय-संप्रदाय का अभ्युदय १२०० ई० के आसपास शुरू होता है। बंगाल के नवद्वीप में गंगेश ने 'तत्त्वचिंतामणि' लिखकर इस संप्रदाय को प्रचलित किया। नवीन न्याय में भाषा की क्लिष्टता और वाह्य शब्दजाल की अधिक प्रधानता है। पीछे से नदिया में इस संप्रदाय का बहुत प्रचार हुआ, परंतु न उसमें तत्त्व-निर्णय रहा, न तत्त्व-निर्णय का सामर्थ्य, किंतु शब्दाडंबर बहुत बढ़ गया। अब तक बंगाल में यह प्रचलित है।

वैशेषिक-दर्शन—वैशेषिक उस दर्शन का नाम है, जिसमें पदार्थों का विचार तथा द्रव्यों का निरूपण हो। महर्षि कणाद का 'वैशेषिक-दर्शन', न्यायदर्शन से बहुत कुछ समानता रखता है। सिद्धांतपक्ष में न्याय कहने से दोनों का बोध होता है; क्योंकि गौतम के न्याय में प्रमाण-पक्ष प्रधान है और इसमें प्रमेय-पक्ष। ईश्वर, जगत् , जीव आदि के संबंध में दोनों के सिद्धांत एक हैं। न्याय में मुख्यतः तर्कपद्धति और प्रमाण-विषय का निरूपण किया गया है, परंतु वैशेषिक में उससे आगे बढ़कर द्रव्यों की परीक्षा की गई है। नौ द्रव्यों—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा (और परमात्मा) और मन—की विशेषताएँ बताने के कारण इसका नाम वैशेषिक पड़ा। इनमें से प्रथम चार परमाणु अवस्था में नित्य और स्थूलावस्था में अनित्य हैं। दूसरे चार नित्य और सर्वव्यापक हैं। मन नित्य है, परंतु व्यापक नहीं। वैशेषिक के अनुसार पदार्थ केवल छः—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ही हैं। पीछे से अभाव भी सातवाँ पदार्थ माना गया। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संख्या, पृथक्त्व, बुद्धि, सुख, दुःख आदि चौबीस गुण हैं। उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि पाँच प्रकार की गतियाँ कर्म हैं।

वैशेषिक का परमाणुवाद प्रसिद्ध है। परमाणु नित्य और अक्षर (अविनाशी) हैं। इन्हीं की योजना से पदार्थ बनते हैं और सृष्टि होती है। जब

जीवों के कर्मफल के भोग का समय आता है, तब ईश्वर की उस भोग के अनुकूल सृष्टि करने की इच्छा होती है। इसी इच्छा या प्रेरणा से परमाणुओं में गति या क्षोभ उत्पन्न होता है और वे परस्पर मिलकर सृष्टि की योजना करने लगते हैं।

इसका जैन-दर्शन से भी बहुत कुछ साम्य है। इस पर कोई प्राचीन भाष्य नहीं मिलता। प्रशस्तपाद का 'पदार्थधर्मसंग्रह' बहुत संभवत: ७०० ई० के क़रीब बना था। यह वैशेषिक-संप्रदाय का प्रामाणिक ग्रंथ है। श्रीधर ने ९९१ ई० में 'पदार्थधर्मसंग्रह' की बहुत उत्तम व्याख्या की। ज्यों-ज्यों समय गुज़रता गया, न्याय और वैशेषिक संप्रदाय भी परस्पर अधिक समीप आते गए।

सांख्य—सांख्य में सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम पर विशेष व्याख्या की गई है। सांख्य के अनुसार प्रकृति ही जगत् का मूल है और सत्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों के योग से सृष्टि तथा उसके सब पदार्थों का विकास हुआ है। आत्मा ही पुरुष है। वह अकर्ता, साक्षी और प्रकृति से भिन्न है। आत्मा या पुरुष अनुभावात्मक हैं। सांख्य के अनुसार परमात्मा (ईश्वर) कोई नहीं है। इस संप्रदायवाले २५ तत्व मानते हैं—पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व (बुद्धि), अहंकार, ग्यारह इंद्रियाँ, (पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ और मन), पाँच गुण और पाँच महाभूत। सृष्टि को प्रकृति का परिणाम मानने के कारण इसे परिणामवाद भी कहते हैं।

सांख्यदर्शन भी अन्य दर्शनों की तरह बहुत प्राचीन है। बुद्ध के समय इसका बहुत अधिक प्रचार था। सांख्यदर्शन के प्रकृतिवादी होने के कारण ही बुद्ध ने भी ईश्वर की सत्ता की उपेक्षा की। वाचस्पति मिश्र ने ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' पर 'सांख्यतत्वकौमुदी' नामक एक प्रामाणिक टीका लिखी इस संप्रदाय के अधिक ग्रंथ नहीं मिलते, जो मिलते भी हैं वे हमारे निर्दिष्ट काल के नहीं। यह निश्चित है कि इस संप्रदाय का प्रचार ग्यारहवीं सदी में भी बहुत था। अरब के विद्वान् अलबेरूनी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में सांख्य के विषय में बहुत कुछ लिखा है। उस समय तक भी ईश्वरकृष्ण की बनाई हुई 'सांख्यकारिका' का प्रचार बहुत था, जैसा कि अलबेरूनी के इससे दिए हुए

कई उद्धरणों से पता चलता है। उपनिषदों में मिलनेवाला सांख्य सेश्वर जान पड़ता है परंतु ईश्वरकृष्ण और उसके बाद के लेखकों ने उसे निरीश्वर माना है।

योग—योग वह दर्शन है, जिसमें चित्त को एकाग्र करके ईश्वर में लीन करने का विधान है। योगदर्शन में आत्मा और जगत् के संबंध में सांख्य-दर्शन के सिद्धांतों का ही प्रतिपादन किया है, परंतु पच्चीस तत्वों की जगह योग में छब्बीस तत्व माने गए हैं। छब्बीसवाँ तत्व क्लेश, कर्मविपाक आदि से पृथक्, ईश्वर है। इसमें योग के उद्देश, अंग तथा ईश्वर की प्राप्ति के साधनों पर पूरा विचार किया गया है। योग-संप्रदाय के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये पाँच प्रकार के क्लेश मनुष्य को होते हैं; और कर्मों के फलानुसार उसे दूसरा जन्म लेना पड़ता है। इनसे बचने और मोक्ष प्राप्त करने का उपाय योग है। क्रमशः योग के अंगों का साधन करते हुए मनुष्य सिद्ध हो जाता है और अंत में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ईश्वर नित्य, मुक्त, एक, अद्वितीय और त्रिकालातीत है। संसार दुःख-मय और हेय है। योग के आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं। योगसिद्धि के लिए इन आठों अंगों का साधन आवश्यक और अनिवार्य है। सृष्टितत्व आदि के संबंध में योग का भी प्रायः वही मत है, जो सांख्य का है। इससे सांख्य को ज्ञानयोग और योग को कर्मयोग कहते हैं।

इस दर्शन का भारतीय जीवन पर पर्याप्त असर पड़ा। बहुतों ने योग की शिक्षा प्राप्त की। योगसूत्रों के 'व्यासभाष्य' की वाचस्पति मिश्र ने एक प्रामाणिक टीका लिखी। विज्ञानभिक्षु का 'योगसारसंग्रह' भी एक प्रामाणिक ग्रंथ है। राजा भोज ने योगसूत्रों पर एक स्वतंत्र वृत्ति लिखी। पीछे से योग-शास्त्र में तंत्र का बहुत मेल मिलाकर कायव्यूह का विस्तार किया गया और शरीर के अंदर कई चक्र कल्पित किए गए। हठयोग, राजयोग, लययोग आदि विषयों पर भी पीछे से कुछ ग्रंथ लिखे गए।

पूर्वमीमांसा—कुछ विद्वानों का मत है कि पहले मीमांसा का नाम न्याय था। वैदिक वाक्यों के परस्पर समन्वय और समाधान के लिए जैमिनि

ने पूर्वमीमांसा में जिन युक्तियों और तर्कों का व्यवहार किया, वे पहले न्याय के नाम से प्रसिद्ध थे। 'आपस्तंबधर्मसूत्र' के न्याय शब्द से पूर्वमीमांसा ही अभिप्रेत है। मध्वाचार्य ने पूर्वमीमांसा विषय का 'सारसंग्रह' ग्रंथ लिखा, जो 'न्यायमालाविस्तार' नाम से प्रसिद्ध है। इसी तरह वाचस्पति ने 'न्याय-कणिका' नाम से मीमांसा-विषयक ग्रंथ लिखा।

मीमांसा-शास्त्र कर्मकांड का प्रतिपादक है और वेद के क्रियात्मक भाग की व्याख्या करता है। इसमें यज्ञकांड संबंधी मंत्रों में विनियोग, विधि आदि का भले प्रकार प्रतिपादन किया गया है। इसमें यज्ञ, बलिदान और संस्कारों पर विशेष ज़ोर दिया गया है। अतः मीमांसक पौरुषेय और अपौरुषेय सभी वाक्यों को कार्य-विषयक मानते हैं। मीमांसा में आत्मा, ब्रह्म, जगत् आदि का विवेचन नहीं है। यह केवल वेद वा उसके शब्द की नित्यता का प्रति-पादन करता है। इसके अनुसार वेदमंत्र ही देवता हैं। मीमांसकों का कथन है कि सब कार्य फल के उद्देश्य से ही होते हैं। फल की प्राप्ति कर्म के द्वारा ही होती है। अतः कर्म और उसके प्रतिपादक वचनों के अतिरिक्त ऊपर से किसी ईश्वर को मानने की आवश्यकता ही नहीं। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और नैयायिक अनित्य। सांख्य और पूर्वमीमांसा दोनों अनीश्वरवादी हैं; वेद की प्रामाणिकता भी दोनों मानते हैं, भेद यही है कि सांख्य वेद का प्रत्येक कल्प में नवीन प्रकाशन मानता है और मीमांसक उसे नित्य कहते हैं।

जैमिनि के सूत्रों पर सब से प्राचीन भाष्य शबर स्वामी का उपलब्ध होता है, जो संभवतः पाँचवीं सदी में लिखा गया है। कुछ समय पीछे मीमांसकों के दो भेद हो गए। उनमें एक का प्रवर्तक कुमारिल भट्ट सातवीं सदी में हुआ, जिसका उल्लेख धर्म के प्रकरण में किया जा चुका है। उसने मीमांसा पर 'कातंत्रवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' लिखे, जिनमें उसने वेद की प्रामा-णिकता स्वीकार न करनेवाले बौद्धों का बहुत खंडन किया। मध्वाचार्य ने इस विषय पर 'जैमिनीय-न्यायमाला-विस्तार' नाम से एक प्रामाणिक ग्रंथ लिखा। इस शास्त्र का नाम पूर्वमीमांसा इसलिए रखा गया है कि कर्मकांड

और ज्ञानकांड में से पूर्व (कर्मकांड) का इसमें विवेचन है, इसलिए नहीं कि यह उत्तरमीमांसा (वेदांत) से पहले बना।

उत्तरमीमांसा—उत्तरमीमांसा या वेदांतदर्शन का हमारे इस निर्दिष्ट समय में सब से अधिक विकास हुआ। व्यास के 'वेदांतसूत्र' अन्यदर्शन-सूत्रग्रंथों की तरह बहुत पहले बन चुके थे। इसका सब से प्राचीन भागुरी-कृत भाष्य आज उपलब्ध नहीं है। दूसरा भाष्य शंकराचार्य का मिलता है।

शंकराचार्य और उनका अद्वैतवाद—शंकराचार्य ने इस युग में धार्मिक और दार्शनिक क्रांति पैदा कर दी। धार्मिक क्रांति का संक्षिप्त वर्णन हम अन्यत्र कर चुके हैं। उन्होंने वेदांत में अद्वैतवाद (आत्मा और परमात्मा में भेद न मानना) और मायावाद के सिद्धांत का इतनी प्रबलता और विद्वत्ता से प्रतिपादन किया कि प्रायः सभी विद्वान् दंग रह गए। वेदांतसूत्रों में इस मायावाद का विकास नहीं देख पड़ता। पहले-पहल शंकराचार्य के गुरु (गोविंदाचार्य) के गुरु गौड़पाद की कारिकाओं में माया का कुछ वर्णन मिलता है, जिसे शंकराचार्य ने बहुत विकसित कर दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा स्थान दे दिया। एक तरह से वे ही अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य थे। उन्होंने अपनी विद्वत्ता के बल पर प्रस्थानत्रयी—वेदांतसूत्र, उपनिषदों और गीता—का अद्वैत-प्रतिपादक भाष्य लिखकर दार्शनिक-मंडली में इस सिद्धांत का बहुत प्रचार किया। शंकराचार्य की अकाट्य तर्कशैली ललित भाषा में प्रतिपादन-पद्धति और प्रगाढ़ विद्वत्ता ने बहुत से विद्वानों को अद्वैतवादी बना दिया। अद्वैतवाद के प्रचार के लिए उन्होंने केवल पुस्तकों के भाष्य ही नहीं किए, किंतु संपूर्ण भारत में घूम-घूम कर सभी दार्शनिक संप्रदायों के बहुत से विद्वानों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया। इससे उनकी विद्वत्ता का सिक्का जम गया। शंकराचार्य-प्रतिपादित वेदांत ही आजकल का वेदांत है।

इसके सिद्धांतों का संक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक है। न्याय और वैशेषिक ने ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को मानकर ईश्वर को जगत् का कर्ता ठहराया है। सांख्य ने दो ही नित्य तत्व स्थिर किए—पुरुष और प्रकृति। वेदांत ने और भी आगे बढ़ कर अद्वैतवाद—विशुद्ध ब्रह्म—की

स्थापना की। ब्रह्म ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं। जगत् में जो विविध दृश्य दीखते हैं वे सब परिणामी और अनित्य हैं। ब्रह्म चित्स्वरूप या आत्मस्वरूप है। सब ज्ञेय पदार्थ भी ब्रह्म के ही सगुण, सोपाधि या मायात्मक रूप हैं। जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं। जगत् और सृष्टि के संबंध में वेदांतियों की कल्पना है कि जगत् ब्रह्म का विवर्त (कल्पित) रूप है। रस्सी में सर्प की कल्पना की तरह नित्य और शुद्ध ब्रह्म में भ्रमात्मक और नामरूपात्मक जगत् की कल्पना की जाती है। यह जगत् न तो ब्रह्म का वास्तविक रूप है और न उसका कार्य या परिणाम ही। माया के कारण ही ब्रह्म भिन्न-भिन्न रूपों में दीखता है। ब्रह्म के साथ माया का संयोग होने से ही जीव बनता है। ज्ञान से माया नष्ट हो सकती है और विशुद्ध ब्रह्म रह जाता है। यह माया अनिर्वचनीय है।

इस अद्वैतवाद या मायावाद पर बौद्धमत का पर्याप्त प्रभाव था, इसी से बहुत से दार्शनिक शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहते हैं। यद्यपि 'बौद्ध-धर्म' के ह्रास के साथ बौद्धदर्शन भी लुप्त सा हो गया था, तथापि उसका संसार को मिथ्या मानने का विचार शंकराचार्य ने उसी तरह जारी रखा। ब्रह्म और वेद की नित्यता आदि मानने तथा बौद्धों के जगत् के मिथ्यावाद के मानने से हिंदुओं और बौद्धों के लिए यह वाद बहुत आकर्षक सिद्ध हुआ। यही कारण है कि यह संप्रदाय इतना जल्दी फैला। शंकराचार्य के भाष्यों पर उनके शिष्यों ने भी कई विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं, जिनका वर्त्तमान वेदांतसंप्रदाय में बहुत महत्व है। इस दार्शनिक संप्रदाय की वृद्धि का यह भी कारण हुआ कि उन्होंने इसे धार्मिक संप्रदाय का रूप देकर भारत के चारों कोनों में मठ स्थापित कर दिए, जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है। इन मठों के द्वारा अद्वैतवाद का प्रचार बहुत हुआ। शंकराचार्य के पीछे आनेवाले वेदांतियों ने वेदांत का साहित्य बहुत उन्नत किया।

रामानुज और उनका विशिष्टाद्वैत—शंकराचार्य का यह अद्वैतवाद बहुत समय तक वेदांत-संप्रदाय के नाम से चलता रहा। इसमें किसीने बाधा उपस्थित न की, परंतु १२ वीं सदी में रामानुज ने वेदांत-संप्रदाय में एक नवीन भेद प्रचलित किया। यह शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न

था। इसे हम विशिष्टाद्वैतवाद कह सकते हैं। इसके अनुसार जीवात्मा और जगत् ब्रह्म से भिन्न होने पर भी वास्तव में भिन्न नहीं है। इस सिद्धांत में यद्यपि ब्रह्म, जीवात्मा और जगत् तीनों मूलतः एक ही माने जाते हैं तो भी तीनों कार्य-रूप में एक दूसरे से भिन्न और कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त हो जाते हैं। जीव और ब्रह्म का वही संबंध है, जो किरण और सूर्य का है। किरण जिस प्रकार सूर्य से निकलती है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से निकला हुआ है। ब्रह्म एक भी है और अनेक भी। ब्रह्म केवल निमित्त कारण है। जीव उपादान है। इसके वाह्यजगत्-संबंधी विचार सांख्यदर्शन के आधार पर अवलंबित हैं। वास्तव में द्वैत और अद्वैत दोनों के मध्य का यह मार्ग है। इसे 'भेदाभेदवाद' या 'द्वैताद्वैतवाद' भी कहते हैं।

रामानुज ने वेदांतसूत्रों, गीता और उपनिषदों का द्वैतवादसूचक 'श्रीभाष्य' लिखा। उन्होंने भी शंकराचार्य की तरह दक्षिण में एक संप्रदाय (आस्तिक वैष्णव) का प्रचलन किया, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यद्यपि उनका संप्रदाय शंकराचार्य के संप्रदाय के समान नहीं बढ़ा तो भी उसका अच्छा प्रचार हुआ।

मध्वाचार्य और उनका द्वैतवाद—रामानुज के समय में ही मध्वाचार्य ने भी द्वैतवाद का प्रचार कर माध्व-संप्रदाय जारी किया। उन्होंने सात प्राचीन उपनिषदों, वेदांत-सूत्रों, भगवद्गीता और भागवतपुराण के द्वैत-प्रतिपादक भाष्य तथा कतिपय स्वतंत्र पुस्तकें लिखीं। उपर्युक्त सब ग्रंथों का उन्होंने द्वैतप्रतिपादक भाष्य लिखकर सांख्य और वेदांत को सम्मिलित कर दिया। अपने द्वैत के सब सिद्धांतों का संग्रह उन्होंने 'तत्वसंख्यान' नामक ग्रंथ में किया है। उन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति को पृथक्-पृथक् माना है। वेदांत-संप्रदाय में शंकराचार्य के वे पूरे विरोधी रहे। इस संप्रदाय ने भी दार्शनिक संप्रदाय की अपेक्षा धार्मिक संप्रदाय का रूप ही अधिक पकड़ा।

इस तरह हमारे इस निर्दिष्ट काल में वेदांत-संप्रदाय का बहुत अधिक विकास हुआ। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने वेदांतसूत्रों का अपनी-अपनी शैली से भाष्य कर कई संप्रदाय चलाए। यद्यपि ये संप्रदाय आज भी विद्यमान हैं तो भी शंकराचार्य के अद्वैतवाद का सबसे अधिक प्रचार है और उसका एक

परिणाम यह हुआ कि सभी प्राचीन ग्रंथ एक नए दृष्टिकोण (अद्वैतसूचक) से देखे जाने लगे। मायावाद के इस सिद्धांत ने साधारण हिंदुओं के, जो पहले ही बौद्धधर्म के कारण जगत् को मिथ्या माने हुए थे, दिलों में घर कर लिया, जिसका प्रभाव आजतक हिंदुओं के दिलों से नहीं गया।

चारवाक—इन छहों दार्शनिक संप्रदायों के अतिरिक्त उस समय कई और संप्रदाय भी विद्यमान थे। चारवाक-संप्रदाय भी बहुत प्राचीन है। इसके सूत्रों का कर्ता वृहस्पति प्राचीन काल में हो चुका था। बौद्धों ने इस नास्तिक और प्रत्यक्ष-प्रधान संप्रदाय को नष्ट करने का बहुत प्रयत्न किया। नहीं कहा जा सकता कि यह संप्रदाय कबतक सुसंगठित रूप में विद्यमान रहा। इतना निश्चित है कि शंकराचार्य के समय में भी यह मत ऐसी हीन स्थिति को प्राप्त नहीं हुआ था कि उसकी उपेक्षा की जा सके।

बौद्ध-दर्शन—बौद्धधर्म के ह्रास का प्रारंभ हो चुका था, परंतु उसका दर्शन बहुत समय तक स्थिर रहा। बौद्धधर्म की उत्पत्ति के साथ ही उसका दर्शन नहीं बना। बहुत पीछे बौद्ध-विद्वानों ने अपने सिद्धांतों को दार्शनिक रूप देने का प्रयत्न किया। बौद्धधर्म के सिद्धांतों का संक्षिप्त विवेचन हम पहले कर चुके हैं।

जैन-दर्शन—जैन-संप्रदाय के विद्वानों ने भी अपने सिद्धांतों को दार्शनिक रूप देने में कम यत्न नहीं किया। कुछ समय में ही जैन-दर्शन भी पर्याप्त उन्नत और विकसित हो गया। इसके सिद्धांतों का भी हम पहले विवेचन कर चुके हैं। फिर भी यहाँ उनके मुख्य दार्शनिक सिद्धांत 'स्याद्वाद' का उल्लेख करना आवश्यक है।

मनुष्य का ज्ञान अनिश्चित है। वह किसी वस्तु के स्वरूप को निश्चित रूप में नहीं जान सकता। अपनी इंद्रियों तथा अंतःकरण की दूरबीन के अनुसार ही वह हर एक वस्तु का स्वरूप निर्माण करता है। इंद्रियाँ ज्ञान का पर्याप्त साधन नहीं हैं, एवं यह आवश्यक नहीं कि उसका निर्णीत रूप सत्य हो, यद्यपि वह उसे सत्य समझ रहा हो। इसी सिद्धांत के आधार पर जैनियों के 'स्याद्वाद' का प्रारंभ हुआ है। वे हर एक ज्ञान को सात कोटियों में विभक्त

करते हैं। वे ये हैं—(१) स्यादस्ति (संभवतः हो), (२) स्यान्नास्ति (संभवतः न हो), (३) स्यादस्ति च नास्ति च (संभवतः किसी रूप में हो, किसी रूप में न हो), (४) स्यादवक्तव्यं (संभवतः शब्दों से उसका वर्णन न किया जा सकता हो), (५) स्यादस्ति चावक्तव्यं (संभवतः हो और शब्दों से उसका वर्णन न किया जा सकता हो), (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यं (संभवतः न हो और उसका वर्णन न किया जा सकता हो), (७) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं (संभवतः किसी रूप में हो, किसी रूप में न हो पर अवर्णनीय हो)। हर एक कोटि संभावना या संशयावस्था में ही हमारे ज्ञान की बोधक है।

तत्कालीन दार्शिनिक उन्नति का सिंहावलोकन—यदि हम भारतवर्ष के इन छः सौ वर्षों के दार्शनिक इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि सभी संप्रदाय विकास पर हैं। यदि अद्वैतवाद अपने शिखर पर है, तो द्वैतवाद भी कम उन्नति नहीं कर रहा है। एक ओर यदि मोक्ष, ईश्वर आदि आध्यात्मिक बातों की चर्चा ज़ोरों पर थी तो दूसरी ओर चारवाकों का यह कथन —

यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

चल रहा था। इधर वेदांत, न्याय, योग आदि संप्रदाय ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे थे, तो उधर सांख्य-संप्रदाय निरीश्वरवाद के प्रचार में लगा हुआ था। पूर्वमीमांसक यदि कर्मकांड का प्रतिपादन कर रहे थे, तो वेदांती ज्ञान द्वारा ही मोक्षप्राप्ति सिद्ध कर रहे थे।

यूरोपीय दर्शन पर भारतीय दर्शन का प्रभाव—भारत की इस दार्शनिक उन्नति का यूरोपीय दर्शनशास्त्र पर क्या प्रभाव पड़ा, यह एक बड़ा विस्तृत विषय है और हमारे विषय से यह कुछ बाहर भी है। हमें तो केवल ६०० से १२०० ई० तक के काल पर विचार करना है और हमारे दर्शनशास्त्र का जो प्रभाव यूरोपीय दर्शन पर पड़ा है, वह इस काल से विशेष संबंध नहीं रखता। फिर भी इसके अत्यंत आवश्यक होने से यहाँ इसका निर्देश-मात्र कर देना अनुचित न होगा।

प्राच्य दर्शनशास्त्र का ग्रीक (यूनानी) दर्शन पर बहुत प्रभाव पड़ है। दोनों के बहुत से विचारों में समानता पाई जाती है। ज़ेनोफ़िनस औ परमैनिडस के सिद्धांतों तथा वेदांत में बहुत कुछ साम्य है [1]। सुक़रात औ प्लैटो का आत्मा के अमरत्व का सिद्धांत प्राच्य-दर्शन का ही सिद्धांत है सांख्य का ग्रीक दर्शन पर प्रभाव स्पष्ट और बहुत संभव है। ऐसा भी मान जाता है कि प्रसिद्ध ग्रीक विद्वान् पैथागोरस तो भारतवर्ष में दर्शन पढ़ने वे लिए आया था। वही नहीं, अनेक्सर्चिस, पिरोह और अन्य कतिपय ग्रीव विद्वान् भी भारतीय दर्शन का अध्ययन करने के लिए यहाँ आए थे [2]। पैथा गोरस ही पुनर्जन्म का सिद्धांत सीख कर ग्रीस में उसका प्रवर्तक हुआ। ग्रीर में प्रचलित प्राचीन कथाओं के अनुसार चेल्स, एंपिडोक्लिस, डिमॉक्रिटर आदि विद्वानों ने दर्शन पढ़ने के लिए पूर्व की यात्रा की थी [3]। नास्टिव मत पर भी सांख्य का प्रभाव पर्याप्त-रूप से पड़ा [4]।

अंत में हम प्राच्य-दर्शन के विषय में कुछ विद्वानों के कतिपय उद्धरण देकर इस विषय को समाप्त करते हैं।

श्लेगल ने लिखा है कि युरोप का उच्च से उच्च दर्शन, भारतीय दर्शन के दोपहर के प्रकाशमान सूर्य के सामने एक छोटे से टिमटिमाते हुए दीपव के समान है [5]।

सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर ने लिखा है कि भारतीय दर्शन में ज्ञान और कर्म की, धर्म और अधर्म की समस्या; जड़, चेतन और आत्मा की समस्या; स्वतंत्र कर्तृत्व और परतंत्रता का विचार; ईश्वर और जीव की समस्या; तथा अन्य विचारणीय प्रश्न, जैसे पुण्य, पाप, जीवन में सुख-दुःख का विषम विभाग आदि पर भी बहुत विचार किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति, व्यवस्था

---

[1] ए० ए० मैक्डानल, 'इंडियाज़ पास्ट', पृ० १५९

[2] डाक्टर एनफ़ील्ड, 'हिस्ट्री आफ़ फ़िलासफ़ी', जि० १, पृ० ६५

[3] प्रो० मैक्डानल, 'संस्कृत लिटरेचर', पृ० ४२२

[4] वही, पृ० ४२३

[5] 'हिस्ट्री आफ़ लिटरेचर'।

और विकास के संबंध में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ प्रादुर्भूत हुई थीं। वर्तमान विद्वानों के विचार कपिल के विकास-सिद्धांत का बढ़ाया हुआ रूप ही हैं[१]।

श्रीमती डाक्टर बेसेंट लिखती हैं—भारतीय मनोविज्ञान यूरोपीय मनोविज्ञान से अधिक संपूर्ण है[२]।

प्रोफ़ेसर मैक्स डंकर ने लिखा है कि हिंदुओं की तार्किक गवेषणाएँ वर्तमान समय की किसी जाति के तर्कशास्त्र से कम नहीं हैं[३]।

ज्योतिष

ज्योतिष-शास्त्र की पूर्वकालीन उन्नति—अन्य शास्त्रों की तरह ज्योतिष-शास्त्र भी भारत में प्राचीन काल से अत्यंत उन्नत था। वेदों में ज्योतिष के बहुत ऊँचे सिद्धांतों का वर्णन मिलता है। एक ब्राह्मण में लिखा है कि सूर्य वस्तुतः उदय और अस्त नहीं होता, परंतु पृथ्वी के घूमने से दिन-रात होते हैं[४]। प्राचीन काल में यज्ञ यागादि की अधिकता होने से उसके लिए नक्षत्र और कालनिर्णय का ज्ञान सर्वसाधारण में भी प्रचलित था। ज्योतिष भी वेद का एक अंग माना जाता था, जिससे इसका अध्ययन बहुत होता था। ईसा से भी पूर्व 'वृद्धगर्गसंहिता' और जैनियों की 'सुरीयपन्नति' आदि ज्योतिष के ग्रंथ बन चुके थे। 'आश्वलायनसूत्र', 'पारस्करगृह्यसूत्र', 'महाभारत' और 'मानवधर्मशास्त्र' आदि ग्रंथों मेंज्योतिष की बहुत-सी बातें उद्धरण रूप में आती हैं। ईसा के बाद का सबसे प्रथम और पूर्ण ग्रंथ 'सूर्य-सिद्धांत' था, जो अब उपलब्ध नहीं है। उसका पूरा वर्णन वराहमिहिर ने अपनी 'पंचसिद्धांतिका' में किया है,वही उपलब्ध है। वर्तमान 'सूर्य-सद्धांत' उससे भिन्न और नवीन है। वराहमिहिर ने (५०५ ई०) अपनी 'पंचसिद्धांतिका' में प्राचीन प्रचलित पाँच सिद्धांतों—पुलिश, रोमक, वसिष्ठ, सौर (सूर्य) और पितामह—का कारण-रूप से (जिसमें अंकगणित की सहायता

---

[१] हंटर, 'इंडियन गैज़ेटियर', इंडिया, पृ० २१३–१४

[२] 'लेक्चर आन नेशनल यूनिवर्सिटीज़ इन इंडिया', कलकत्ता, १९०६

[३] 'हिस्ट्री ऑफ़ एंटिक्विटी', जिल्द ४, पृ० ३१०

[४] ए० ए० मैक्डानल, 'इंडियाज़ पास्ट', पृ० १८१

से ही ज्योतिष गणना हो सकती है और ज्याचाप कर्म की आवश्यकता नहीं रहती) वर्णन किया है और लाटाचार्य, सिंहाचार्य तथा उसके गुरु, आर्य-भट, प्रद्युम्न और विजयनंदी के मतों को उद्धृत किया है, जिससे पाया जाता है कि ये विद्वान् उससे पूर्व के हैं; परंतु खेद है कि अब आर्यभट के अतिरिक्त अन्य किसी का ग्रंथ नहीं मिलता। आर्यभट ने, जिसका जन्म ४७६ ई० में हुआ था, 'आर्यभटीय' लिखा। उसने सूर्य और तारों के स्थिर होने तथा पृथिवी के घूमने के कारण दिन और रात होने का वर्णन किया है। उसने पृथिवी की परिधि ४९६७ योजन अर्थात् २४८३५ मील बताई है। उसने सूर्य और चंद्र के ग्रहण के वैज्ञानिक कारणों की भी व्याख्या की है। इसके बाद एक दूसरा आर्यभट भी हुआ, जिसने 'आर्यसिद्धांत' लिखा और जिसका भास्कराचार्य ने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है।

वराहमिहिर के पाँच सिद्धांतों में से रोमक सिद्धांत बहुत संभवतः ग्रीक सिद्धांत है। भारतीय ज्योतिष और यूनानी ज्योतिष में बहुत से सिद्धांत परस्पर मिलते हैं। यह निश्चित करना कठिन है कि किसने किससे कितना सीखा।

६०० ई०—१२०० ई० तक का ज्योतिष-साहित्य—वराहमिहिर के बाद ज्योतिष का प्रधान विद्वान् ब्रह्मगुप्त हुआ। उसने ६२८ ई० के आसपास 'ब्राह्मस्फुटसिद्धांत' और 'खंडखाद्य' लिखे। उसने प्रायः अपने पूर्व के विद्वानों का समर्थन किया है। उसकी प्रतिपादन-शैली अधिक विस्तृत और विधियुक्त है। उसने ग्यारहवें अध्याय में आर्यभट की आलोचना की है। इसके कुछ वर्षों बाद प्रसिद्ध लल्ल हुआ, जिसने अपने 'लल्लसिद्धांत' में आर्यभट के भूभ्रमण के सिद्धांत का विरोध करते हुए लिखा है—'यदि पृथ्वी घूमती होती तो वृक्ष पर से उड़ा हुआ पक्षी अपने घोंसले पर फिर नहीं जा सकता[१]'। लेकिन लल्ल को यह मालूम नहीं था कि पृथ्वी अपने को घेरे

---

[१] **यदि च भ्रमति क्षमा तदा स्वकुलायं कथमाप्नुयुः खगाः।**
इषवोऽभिनभः समुज्झिता निपतंतः स्युरपांपतेर्दिशि॥

लल्लसिद्धांत।

हुए वातावरण सहित घूमती है। यदि उसको यह ज्ञात होता तो वह भूभ्रमण के सिद्धांत का विरोध न करता। लल्ल के बाद हमारे समय में चतुर्वेद पृथूदक स्वामी ने ९७८ ई० के आसपास ब्रह्मगुप्त के 'ब्राह्मस्फुटसिद्धांत' की टीका लिखी। १०३८ ई० के क़रीब श्रीपति ने 'सिद्धांतशेखर' और 'धीकोटिद' (करण); वरुण ने ब्रह्मगुप्त के 'खंडखाद्य' पर टीका और भोजदेव ने 'राजमृगांक' (करण) लिखे। ब्रह्मदेव ने ग्यारहवीं सदी के अंत में 'करणप्रकाश' नामक ग्रंथ लिखा।

हमारे समय के अंत में प्रसिद्ध ज्योतिषी महेश्वर का पुत्र भास्कराचार्य हुआ। उसने 'सिद्धांतशिरोमणि', 'करणकुतूहल', 'करणकेसरी', 'ग्रहगणित', 'ग्रहलाघव', 'ज्ञानभास्कर', 'सूर्यसिद्धांतव्याख्या' और 'भास्करदीक्षितीय' लिखे। 'सूर्यसिद्धांत' के बाद 'सिद्धांतशिरोमणि' एक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। इसके चार भाग लीलावती, बीजगणित, ग्रहगणिताध्याय और गोलाध्याय हैं। पहले दो तो गणित-संबंधी हैं और पिछले दो ज्योतिष से संबंध रखते हैं। भास्कराचार्य ने इस ग्रंथ में पृथ्वी के गोल होने और उसमें आकर्षण-शक्ति होने के सिद्धांतों का प्रतिपादन बहुत अच्छी तरह किया है। वह लिखता है—

"गोले की परिधि का सौवाँ भाग एक सीधी रेखा प्रतीत होता है। हमारी पृथ्वी भी एक बड़ा गोला है। मनुष्य को उसकी परिधि का एक बहुत ही छोटा भाग दीखता है, इसीलिए वह चपटी दीखती है[1]।"

"पृथ्वी अपनी आकर्षण-शक्ति के जोर से सब चीज़ों को अपनी ओर खींचती है। इसीलिए सभी पदार्थ उस पर गिरते हुए नज़र आते हैं[2]।"

न्यूटन से कई शताब्दियों पहले ही भास्कराचार्य ने आकर्षण का यह

---

[1] **समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयान्।**
नरश्च तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा॥
सिद्धांतशिरोमणि—गोलाध्याय।

[2] **आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।**
आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥

सिद्धांत ('थ्योरी आव् ग्रैविटेशन') इतनी उत्तमता से लिख दिया है कि उसे देखकर आश्चर्य होता है। इसी तरह उसने ज्योतिष के अन्य सिद्धांतों का भी बहुत अच्छी तरह वर्णन किया है।

इस तरह हमारे निर्दिष्ट काल में ज्योतिष-शास्त्र बहुत उन्नत हो चुका था। अलबेरूनी ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में हमारे ज्योतिष-शास्त्र की उन्नति तथा उसके कुछ सिद्धांतों का उल्लेख किया है। डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर के कथनानुसार आठवीं सदी में अरब के विद्वानों ने भारत से ज्योतिष सीखी और सिद्धांतों का 'सिंदहिंद' नाम से अरबी में अनुवाद किया[१]। खलीफ़ा हारूँ रशीद और अलमामू ने भारतीय ज्योतिषियों को अरब में बुलाकर उनके ग्रंथों का अरबी में अनुवाद कराया[२]। हिंदू भी ग्रीकों की तरह अरबों के गुरु थे। आर्यभट के ग्रंथों का अनुवाद कर 'अर्जबहर' नाम रखा गया[३]। चीन में भी भारतीय ज्योतिष का बहुत प्रचार हुआ। प्रोफ़ेसर विलसन ने लिखा है—'भारत में मिलनेवाली, क्रांतिवृत्त का विभाग, सौर और चांद्रमासों का निरूपण, ग्रहगति का निर्णय, अयनांश का विचार, सौरराशिमंडल, पृथ्वी की निराधार अपनी शक्ति से स्थिति, पृथ्वी की अपने अक्ष पर दैनिक गति, चंद्र का भ्रमण और पृथ्वी से उसका अंतर, ग्रहों की कक्षा का मान तथा ग्रहण का गणित आदि ऐसी बातें हैं, जो अशिक्षित जातियों में नहीं पाई जातीं'[४]।

फलित ज्योतिष—भारत में अत्यंत प्राचीन काल से लोगों का फलित ज्योतिष पर विश्वास रहा है। ब्राह्मणों और धर्मसूत्रों में भी इसका कहीं-कहीं उल्लेख पाया जाता है। इसके प्राचीन ग्रंथ नहीं मिलते। बहुत संभव है कि वे नष्ट हो गए हों। 'वृद्धगर्गसंहिता' में भी इसका कुछ उल्लेख मिलता है। वराहमिहिर के कथनानुसार ज्योतिष-शास्त्र तंत्र, होरा और शाखा तीन

---

[१] हंटर, 'इंडियन गैज़ेटियर, इंडिया', पृ० २१८

[२] मिल, 'हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया', जिल्द २, पृ० १०७

[३] वेबर, 'इंडियन लिटरेचर', पृ० २५५

[४] मिल, 'हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया', जिल्द २, पृ० १०७

विभागों में विभक्त है। तंत्र या सिद्धांत ज्योतिष का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। होरा और शाखा का संबंध फलित ज्योतिष से है। होरा में जन्म-कुंडली आदि से मनुष्य के जीवन-संबंधी फलाफल का विचार रहता है। शाखा या संहिता में धूम्रकेतु, उल्कापात, शकुन और मुहूर्त आदि का विवेचन होता है। वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' फलित ज्योतिष के लिए मुख्य ग्रंथ है। इसमें मकान बनाने, कूप और तालाब खोदने, बाग़ लगाने, मूर्ति-स्थापना आदि के लिए बहुत से शकुन दिए हैं। विवाह और दिग्विजय के लिए प्रस्थान के संबंध में उसने कई ग्रंथ लिखे। फलित ज्योतिष पर 'बृहज्जातक' नाम से भी उसने एक बड़ा ग्रंथ लिखा, जो बहुत प्रसिद्ध है। ग्रह और नक्षत्रों की स्थिति देखकर मनुष्य का भविष्य बताना इस पुस्तक का मुख्य विषय है। ६०० ई० के क़रीब वराहमिहिर के पुत्र पृथुयशा ने 'होराषट्पंचाशिका' नामक फलित ज्योतिष-संबंधी एक पुस्तक लिखी। दसवीं शताब्दी में भट्टोत्पल ने उपर्युक्त पुस्तक तथा वराहमिहिर के ग्रंथों पर बहुत उत्तम और विस्तृत टीकाएँ लिखीं। श्रीपति (१०३९ ई०) ने भी इस संबंध में 'रत्नमाला' और 'जातकपद्धति' ग्रंथ लिखे। इसके पीछे भी इस विषय के बहुत से ग्रंथ लिखे गए।

गणित

भारतीय गणितशास्त्र—ज्योतिष के इस विकास के साथ गणित-शास्त्र का विकास भी होना आवश्यक था। हम देखते हैं कि ६०० ई० तक भारतवर्ष गणितशास्त्र में पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था। उसने ऐसे-ऐसे उच्च सिद्धांतों का आविष्कार कर लिया था, जिनका यूरोपियन विद्वानों को कई सदियों पीछे ज्ञान हुआ। प्रसिद्ध विद्वान् काजोरी ने अपनी 'हिस्ट्री ऑफ़ मैथेमैटिक्स' में लिखा है—"यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय गणित ने हमारे वर्तमान विज्ञान में किस हद तक प्रवेश किया है। वर्तमान बीजगणित और अंकगणित दोनों की विधि और भाव भारतीय हैं, यूनानी नहीं। गणित के उन संपूर्ण और शुद्ध चिह्नों, भारतीय गणित की उन क्रियाओं, जो आज प्रचलित क्रियाओं की तरह संपूर्ण हैं और उनके बीज-गणित की विधियों पर विचार तो करो और फिर सोचो कि गंगा के तीर पर

रहनेवाले ब्राह्मण किस श्रेय के भागी नहीं हैं ? दुर्भाग्य से भारत के कई अमूल्य आविष्कार यूरोप में बहुत पीछे पहुँचे, जिनका प्रभाव, यदि वे दो-तीन सदी पहले पहुँचते तो बहुत पड़ता।"

इसी तरह डि मार्गन ने लिखा है—"हिंदू गणित यूनानी गणित से बहुत उच्च कोटि का है। भारतीय गणित वह है, जिसे हम आज प्रयुक्त करते हैं।"

गणित पर सामान्य रूप से विचार करने से पूर्व अंकविद्या पर विचार करना अधिक लाभप्रद और उपयोगी होगा।

अंक-क्रम का विकास—भारतवर्ष ने अन्य देशवासियों को जो अनेक बातें सिखलाईं, उनमें सबसे अधिक महत्व अंकविद्या का है। संसार भर में गणित, ज्योतिष, विज्ञान आदि में आज जो उन्नति पाई जाती है उसका मूल कारण वर्तमान अंक-क्रम है, जिसमें एक से नौ तक के अंक और शून्य, इन दस चिह्नों से अंकविद्या का सारा काम चल जाता है। यह क्रम भारतवासियों ने ही निकाला और उसे सारे संसार ने अपनाया। हिंदी के पाठकों में से कदाचित् थोड़े ही यह जानते होंगे कि इस अंक-क्रम के निर्माण से पूर्व संसार का अंक-क्रम क्या था और वह गणित ज्योतिष एवं विज्ञान आदि की उन्नति के लिए कितना बाधक था ? इसलिए यहाँ संक्षेप से संसार के प्राचीन अंक-क्रम का विवेचन कर वर्तमान अंकों की भारतीय उत्पत्ति के संबंध में कुछ कहना अनुचित न होगा।

भारतवर्ष के प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों, सिक्कों तथा हस्तलिखित पुस्तकों आदि के देखने से पाया जाता है कि प्राचीन काल में हमारे यहाँ का अंक-क्रम वर्तमान क्रम से बिलकुल ही भिन्न ही था। उसमें एक से ९ तक के अंको के नौ चिह्न, १०,२०,३०,४०,५०,६०,७०,८० और ९० के नौ चिह्न तथा १०० और १००० के लिए एक-एक चिह्न नियत थे। इन्हीं बीस चिह्नों से ९९९९९ तक की संख्या प्रदर्शित की जाती थी। उस काल में लाख करोड़ आदि के लिए क्या चिह्न थे, इसका निश्चित रूप से अब तक कोई पता नहीं लगा। इन अंकों के लिखने का क्रम १ से ९ तक तो वैसा ही था जैसा अब है। १० के लिए नवीन शैली की तरह १ के साथ०

नहीं, वरन् एक नियत चिह्न ही लिखा जाता था। ऐसे ही २०,३०,४० ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, १०० और १००० के लिए भी अपने-अपन नियत चिह्न ही रहते थे। ११ से ९९ तक लिखने का क्रम ऐसा था कि पहले दहाई का अंक लिखकर उसके आगे इकाई का अंक लिखा जाता था, जैसा कि १५ के लिए १० का चिह्न लिखकर उसके आगे ५; और ३३ के लिए ३० और ३ इत्यादि; २०० के लिए १०० का चिह्न लिखकर उसकी दाहिनी ओर कभी ऊपर कभी मध्य और कभी नीचे की तरफ़ एक सीधी (तिरछी) रेखा जोड़ी जाती थी। ३०० के चिह्न के लिए १०० के चिह्न के साथ वैसी ही दो लकीरें जोड़ी जाती थीं। ४०० से ९०० तक के लिए १०० का चिह्न लिखकर उसके साथ क्रमशः ४ से ९ तक के अंक एक छोटी-सी आड़ी लकीर से जोड़ दिए जाते थे। १०१ से ९९९ तक लिखने में सैकड़े के अंक के आगे दहाई और इकाई के अंक लिखे जाते थे, जैसे कि १२९ के लिए १००, २० और ९; ९५५ के लिए ९००, ५० और ५। यदि ऐसे अंकों में दहाई का अंक न हो तो सैकड़े के बाद इकाई का अंक रखा जाता था, जैसे कि ३०१ के लिए ३०० और १। २००० के लिए १००० के चिह्न की दाहिनी ओर ऊपर को एक छोटी-सी सीधी आड़ी (या नीचे को मुड़ी हुई) लकीर जोड़ी जाती थी और ३०० के लिए वैसी ही दो लकीरें, ऐसे ही ९९९९९ लिखने हो तो ९००००, ९०००, ९००,९० और ९ लिखते थे।

भारतवर्ष में अंकों की यह प्राचीन शैली कब से प्रचलित हुई, इसका पता नहीं चलता, परंतु अशोक के सिद्धापुर, सहस्राम और रूपनाथ के लेखों में इस शैली के २००, ५० तथा ६ के अंक मिलते हैं, जिनमें २०० का अंक तीनों लेखों में बिलकुल ही भिन्न प्रकार का है और ५० तथा ६ के दो-दो प्रकार के रूप मिलते हैं।

भारतवर्ष के इस जटिल अंक-क्रम की अपेक्षा मिस्र का सबसे पुराना अंक-क्रम हिएरोग्लिफ़िक (चित्रलिपि) अधिक जटिल था। उसमें मूल अंकों के चिह्न केवल तीन अर्थात् १, १० और १०० के थे। इन्हीं तीन चिह्नों को कई बार लिखने से ९९९ तक के अंक बनते थे। १ से ९ तक के अंक

एक के चिह्न (खड़ी लकीर) को क्रमशः १ से ९ बार लिखने से बनते थे। ११ से १९ तक के लिए १० के चिह्न के बाईं ओर क्रमशः १ से ९ तक खड़ी लकीरें खींचते थे। २० के लिए १० का चिह्न दो बार और ३० से ९० तक के लिए क्रमशः तीन से नौ बार लिखा जाता था। २०० बनाने के लिए १०० के चिह्न को दो बार लिखते थे। उसी तरह तीन सौ के लिए तीन बार लिखते थे। इस क्रम में १००० से १०००० के लिए भी एक-एक चित्र था और लाख के लिए मेंढक और दस लाख के लिए हाथ फैलाए हुए पुरुष का चित्र था। मिस्र का सबसे पुराना अंक-क्रम यही था, जो हमारे अंक-क्रम से भी अधिक जटिल और गणना की बिलकुल प्रारंभिक अवस्था का सूचक था।

फ़िनिशियन अंक भी इसी से निकले हैं, जिनका क्रम भी ऐसा ही है, केवल दस के चिह्न को बार-बार लिखने की रीति को कुछ सरल बनाने के लिए उसमें २० के अंक के लिए नवीन चिह्न बनाया गया, जिससे ३० के लिए २० और १०, ९० के लिए २०, २०, २०, २० और १० लिखने पड़ते थे।

पीछे से मिस्रवालों ने किसी सरल विदेशी अंक-क्रम को देखकर अथवा अपनी बुद्धि से अपने भद्दे हिएरोग्लिफ़िक अंक-क्रम को सरल करने के लिए भारतीय अंक-क्रम जैसा नवीन क्रम बनाया, जिससे १ से ९ तक के लिए नौ, १० से ९० तक दहाइयों के लिए नौ और १०० तथा १००० के लिए एक-एक चिह्न स्थिर किया। इस अंक-क्रम को हिएरेटिक कहते हैं और इसमें भी ऊपर के दोनों क्रमों के समान अंक दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखे जाते थे।

डिमॉटिक अंक हिएरेटिक से ही निकले हैं और इन दोनों में अंतर बहुत कम है, जो समय के साथ हुआ हो।

यूरोप में भी प्राचीन काल में ग्रीक लोग केवल दस हज़ार तक की संख्या जानते थे और रोमन लोग एक हज़ार तक की। उनके अंक-क्रम का प्रचार अबतक कभी-कभी प्रकाशित पुस्तकों में सन् लिखने में, भूमिका में पृष्ठ-संख्या बतलाने के लिए अथवा घड़ियों में अंक बतलाने में प्रचलित हैं।

उसमें १, ५, १०, ५०, १०० तथा १००० के चिह्न हैं, जिनको रोमन अंक कहते हैं। आजकल सब पढ़े-लिखे मनुष्य रोमन अंकों से परिचित हैं, इससे उनके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। इन सब प्राचीन अंक-क्रमों से ज्योतिष, गणित और विज्ञान की विशेष उन्नति होने की कोई संभावना नहीं थी। संसार की वर्तमान उन्नति इन्हीं नवीन अंक-क्रमों से हुई है। यह उपयोगी अंक-क्रम भारतवासियों ने ही निर्माण किया। इस क्रम में दाहिनी से बाईं ओर हटने पर प्रत्येक अंक का स्थानीय मूल्य दस गुना बढ़ जाता है, जैसे १११११११ में छहों अंक १ के ही हैं, परंतु पहले से (दाहिनी ओर से लेने से) १, दूसरे से १०, तीसरे से १००, चौथे से १०००, पाँचवें से १०००० और छठे से १००००० का बोध होता है। इसी से इस संख्या-सूचक क्रम को दशगुणोत्तर संख्या कहते हैं और वर्तमान समय में बहुधा संसार का अंक-क्रम यही है। यह अंक-क्रम भारतवासियों ने कब निकाला इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। प्राचीन शिलालेखों और दानपत्रों के लिखनेवालों ने पुराने ढर्रे पर चलकर ई० सं० की छठी शताब्दी तक के लेखादि में पुरानी शैली से ही अंक दिए हैं। सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक के शिलालेखादि लिखनेवालों में से किसी ने प्राचीन तो किसी ने नवीन शैली का अनुकरण किया है; परंतु गणितकार नवीन क्रम का व्यवहार छठी शताब्दी के बहुत पहले से करने लगे थे। वराहमिहिर की 'पंचसिद्धांतिका' में सर्वत्र अंक नवीन शैली से ही दिए गए हैं। इससे निश्चित है कि ई० सं० की पाँचवीं शताब्दी के अंत में तो ज्योतिषी लोग नवीन शैली के अंकों का व्यवहार करते थे। भट्टोत्पल ने 'वृहत्संहिता' की टीका में कई जगह 'पुलिशसिद्धांत' से, जिसका वराहमिहिर ने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है, वचन उद्धृत किए हैं। उसने एक और स्थान पर 'मूलपुलिशसिद्धांत' के नाम से एक श्लोक भी उद्धृत किया है। उन दोनों में अंक वर्तमान शैली से ही मिलते हैं। इससे जान पड़ता है कि वराहमिहिर के पूर्व भी इस शैली का प्रचार था।

योगसूत्र के प्रसिद्ध भाष्य में व्यास ने (ई० सं० ३०० के आसपास) दशगुणोत्तर अंक-क्रम का बहुत स्पष्ट उदाहरण दिया है। जैसे एक का अंक

'१', सैकड़े के स्थान पर १०० के लिए, दहाई के स्थान पर १० के लिए और इकाई के स्थान पर एक के लिए प्रयुक्त होता है। बख्शाली गाँव (युसुफ़जई जिले, पंजाब में) से भोजपत्र पर लिखी हुई एक प्राचीन पुस्तक जमीन में गड़ी हुई मिली है, जिसमें अंक नवीन शैली से ही दिए हैं। प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर हॉर्नेली ने उसका रचना-काल तीसरी अथवा चौथी शताब्दी होना अनुमान किया है। इस पर डा० बूह्लर ने लिखा है कि यदि अंक-गणित की प्राचीनता का हॉर्नेली का यह बहुत संभावित अनुमान ठीक हो तो उस (अंक-क्रम) के निर्माण का समय ई० सं० के प्रारंभकाल अथवा उससे भी प्राचीन काल का होगा। अभी तक तो नवीन शैली के अंकों की प्राचीनता का यहीं तक पता चला है।

शून्य की योजना कर नौ अंकों से गणितशास्त्र को सरल करनेवाले नवीन शैली के अंकों का प्रचार पहले-पहल किस विद्वान् ने किया इसका कुछ पता नहीं चलता। केवल यही पाया जाता है कि नवीन शैली के अंक की सृष्टि भारत में हुई। फिर यहाँ से अरबों ने यह क्रम सीखा और अरबों से उसका प्रवेश यूरोप में हुआ। इससे पहले एशिया और यूरोप की चाल्डिअन हिब्रू, ग्रीक, अरब आदि जातियाँ वर्णमाला के अक्षरों से अंकों का काम लेती थीं। अरबों में ख़लीफ़ा वलीद के समय (ई० सं० ७०५-७१५) तक अंकों का प्रचार नहीं था, जिसके बाद उन्होंने भारतवासियों से अंक लिए[1]।

इस विषय में अँगरेज़ी विश्वकोष 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' में लिखा है, "इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे (अँगरेज़ी) वर्तमान अंक-क्रम (दशगुणोत्तर) की उत्पत्ति भारतीय है। संभवतः खगोल-संबंधी उन सारणियों के साथ, जिनको एक भारतीय राजदूत ई० सं० ७७३ में बग़दाद में लाया, इन अंकों का प्रवेश अरब में हुआ। फिर ई० सं० की नवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में प्रसिद्ध अबुजफ़र मुहम्मद अल्ख़ारिज़्मी ने अरबी में उक्त क्रम का विवेचन किया और उसी समय से अरबों में उसका प्रचार बढ़ने लगा।"

---

[1] प्राचीन और नवीन अंक-क्रम के विस्तृत विवरण के लिए देखो 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला', पृ० ११०-११८

पुस्तक लिखकर यह बतलाया है कि इस विषय में हिंदू हमसे कितने आगे बढ़े हुए हैं[१]।"

अंकगणित—गणित-विषयक जो पुस्तकें उपलब्ध होती हैं, वे प्रायः ज्योतिष के उन्हीं विद्वानों की हैं, जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। आर्यभट की पुस्तक के प्रथम दो भाग, 'ब्राह्मस्फुटसिद्धांत' में गणिताध्याय और कुतुकाध्याय तथा 'सिद्धांतशिरोमणि' में लीलावती और बीजगणित नामक अध्याय गणित से संबंध रखते हैं। इन पुस्तकों को देखने से पता लगता है कि वे गणित के सभी उच्च सिद्धांतों से परिचित थे। सरल गणित के आठों नियमों—योग, ऋण, गुणा, भाग, वर्गीकरण, घनीकरण, वर्गमूल और घनमूल—का उनमें पूर्ण वर्णन मिलता है। इसके बाद भिन्न-संबंधी, शून्य-संबंधी, क्षेत्रफल, कार्य-संबंधी, त्रैराशिक, श्रेढी, कुट्टक तथा अनंत राशियों के मान-संबंधी अर्थात् शून्य-गणित और व्याज संबंधी नियमों का भी वर्णन मिलता है।

बीजगणित—केवल अंकगणित ही नहीं, ज्योतिष के लिए बीज-गणित का भी उपयोग बहुत किया जाता था। उपर्युक्त पुस्तकों में हम बीज-गणित के बहुत उन्नत सिद्धांत देखते हैं। यह भी यहीं विकसित हुआ था। श्रीयुत काजोरी ने लिखा है कि "बीजगणित के प्रथम यूनानी विद्वान् डायोफ़ैंट ने भी भारत से ही इस संबंध में पहले-पहल ज्ञान प्राप्त किया।" भारत ने बीजगणित यूनान से सीखा, यह ठीक नहीं है। भारतीय और यूनानी बीज-गणित में बहुत से भेद हैं। भारत ने बाहरवीं सदी तक बीजगणित संबंधी जो नियम आविष्कृत किए थे, वे यूरोप में सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में प्रचलित हुए। भारतीयों ने बीजगणित में बहुत से मुख्य नियम आविष्कृत कर लिए थे जिसमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१—ऋण राशियों के समीकरण की कल्पना।

२—वर्ग-समीकरण को सरल करना।

३—अंक-पाश के नियम (यूनानी इन्हें नहीं जानते थे)।

४—एक वर्ण और अनेक वर्ण समीकरण।

---

[१] **'अल्बेरूनीज़ इंडिया', जिल्द १, पृ० १७४-७७**

९—कद्रफल का निर्णय करना, जिसमें व्यक्त और अव्यक्त गणित का विकास हो।

भास्कराचार्य ने यह भी सिद्ध किया है—

क्ष × ० = क्ष; $०^२ = ०$; $\sqrt{०} = ०$; क्ष ÷ ० = ०

भारतवर्ष से ही बीजगणित भी अरबों के द्वारा यूरोप में गया। प्रो० मोनियर विलियम्स कहते हैं कि बीजगणित और ज्यामिति तथा खगोल में उनका प्रयोग भारतीयों ने ही आविष्कृत किया है[१]। मूसा और याक़ूब ने भारतीय बीजगणित का प्रचार अरब में किया था। अरब से यूरोप में इसका प्रचार हुआ[२]।

रेखागणित—इसी तरह रेखागणित में भी भारत ने बहुत उन्नति की थी। भारत का प्राचीनतम रेखागणित बौधायन और आपस्तंब के शुल्वसूत्रों में पाया जाता है। यज्ञवेदियों और कुंडों के बनाने में इसका बहुत उपयोग होता था। यज्ञ और संस्कार करानेवाले पुरोहित जानते थे कि आयत का क्षेत्रफल वर्ग में और वर्ग का क्षेत्रफल वृत्त में किस तरह लाया जाता है। यह भी यूनानी प्रभाव से बिलकुल मुक्त था। रेखागणित की कुछ सिद्धियाँ हम नीचे देते हैं, जो हमारे समय तक ज्ञात हो चुकी थीं—

१—पैथागोरस की सिद्धि अर्थात् समकोण त्रिभुज की दो भुजाओं का वर्गों का योग कर्ण के वर्ग के बराबर होता है।

२—दो वर्गों के योग या अंतर के समान वर्ग बनाना।

३—किसी भी आयत को वर्ग में परिणत करना।

४—$\sqrt{}$ का वास्तविक मान और राशियों का मध्यमाहरण।

५—वर्गों को वृत्त में परिणत करना।

६—वृत्त का क्षेत्रफल।

७—विषय चतुर्भुज में करणानयन की विधि।

८—त्रिभुज, वृत्त और विषम चतुर्भुज का क्षेत्रफल।

---

[१] **'इंडियन विज़डम', पृ० १८५**

[२] **वि० सरकार, 'हिंदू एचीवमेंट्स इन एक्ज़ैक्ट साइंसेज़', पृ० १२-१५**

९—ब्रह्मगुप्त ने वृत्तखंड की ज्या तथा उस पर से खिंचे हुए कोदंड तक के लंब के मालूम होने पर व्यास और वृत्तखंड का क्षेत्रफल निकालने के नियम भी दिए हैं।

१०—शंकु और वर्तुलाकार पदार्थों का क्षेत्रफल।

भास्कराचार्य ने अपने पूर्व के बहुत से गणित के विद्वानों—आर्यभट, लल्ल, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, महावीर (८५० ई०), श्रीधर (८५३ ई०), आर्यभट (द्वितीय) और उत्पल (९७० ई०)—के स्थिर किए हुए नियमों का सार देकर उनकी कृति बतलाई है। बीजगणित की भाँति याक़ूब ने ही भारतीय रेखागणित का प्रचार अरब में किया[1]।

त्रिकोणमिति—प्राचीन भारतीय त्रिकोणमिति से भी पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने ज्या ('साइन') और उत्क्रम ज्या ('वर्स्ड साइन') की सारणियाँ बना ली थीं। इन सारणियों में वृत्तपाद के चौबीसवें भाग तक का प्रयोग है। दोनों सारणियों में अभिन्न मान से ज्या और उत्क्रम ज्या का परिदर्शन मिलता है। इस त्रिकोणमिति का प्रयोग ज्योतिष के लिए होता था।

वाचस्पति ने चापीय घनक्षेत्र निकालने का साधन बिलकुल मौलिक रीति से दिया है। इसी तरह न्यूटन से पाँच शताब्दी पूर्व चलन-गणित का आविष्कार कर भास्कराचार्य ने उसे ज्योतिष में प्रयुक्त किया था। श्रीयुत ब्रजेंद्रनाथ सील के कथनानुसार भास्कराचार्य राशियों के तात्कालिक गणित-साधन में आर्किमीडिस से अधिक शुद्ध और प्रबल हैं। भास्कराचार्य ने ग्रह की क्षणिक गति की गणना करते हुए एक सेकंड के ३३७५ वें भाग—त्रुटि—का भी उल्लेख किया है।

भारतीय, भूगोल और ग्रहमंडल-संबंधी गतिशास्त्र से भी परिचित थे। स्थितिशास्त्र ('स्टैटिक्स') और गतिशास्त्र ('डायनमिक्स') से भी भारतीय कुछ न कुछ परिचित अवश्य थे[2]।

---

[1] विनयकुमार सरकार, 'हिंदू एचीवमेंट्स इन एक्ज़ैक्ट साइंसेज', पृ० १६-१९

[2] वही, २२-२७

आयुर्वेद

आयुर्वेद का साहित्य—आयुर्वेद भी बहुत प्राचीन काल से भारतवर्ष में अत्यंत उन्नत था। वैदिक साहित्य में हम शरीर-विद्या, गर्भविद्या और स्वच्छता का मूल देखते हैं। अथर्ववेद में रोगों के नाम और उनके लक्षण तक ही नहीं, किंतु मनुष्य के शरीर की हड्डियों तक की पूरी संख्या दी है। बौद्धकाल में वैद्यक का बहुत विकास हुआ। अशोक के पार्वतीय लेखों के दूसरे प्रज्ञापन में पशु-चिकित्सा और मनुष्य-चिकित्सा एवं मनुष्यों और पशुओं के उपयोग की औषधियों का उल्लेख है। चीनी तुर्किस्तान से ३५० ई० के आसपास के भोजपत्र पर लिखे संस्कृत ग्रंथ मिले हैं, जिनमें से तीन आयुर्वेद-संबंधी हैं। आयुर्वेद के प्राचीन विद्वानों में चरक का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उसके समय और निवास-स्थान के विषय में ऐतिहासिकों में 'मतभेद है। उसकी 'चरकसंहिता' अग्निवेश के आधार पर लिखी गई है। 'चरकसंहिता' वैद्यक का अत्यंत उत्कृष्ट ग्रंथ है। 'सुश्रुतसंहिता' भी एक बहुत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसका कंबोडिया में नवीं तथा दसवीं शताब्दी में प्रचार हो चुका था। यह ग्रंथ पहले सूत्रों में लिखा गया था। ये दोनों ग्रंथ हमारे समय के पूर्व के हैं।

हमारे निर्दिष्ट काल के प्रारंभ के दो आयुर्वेद के ग्रंथ 'अष्टांगसंग्रह' और 'अष्टांगहृदयसंहिता' हैं। वृद्ध वाग्भट्ट ने 'अष्टांगसंग्रह' संभवतः सातवीं सदी के आस-पास लिखा था। दूसरे ग्रंथ का कर्ता भी वाग्भट्ट ही है, जो पहले से भिन्न है और संभवतः ८०० ई० के आस-पास हुआ था। इसी समय इंदुकर के पुत्र माधवकर ने 'रुग्विनिश्चय' या 'माधवनिदान' नामक एक उत्कृष्ट ग्रंथ लिखा। यह ग्रंथ आज भी निदान के संबंध में बहुत प्रामाणिक समझा जाता है। इसमें रोगों के निदान आदि पर बहुत विस्तार से विचार किया गया है। वृंद के 'सिद्धियोग' में ज्वर आदि के समय विषों के परिणाम आदि पर अच्छा विचार किया गया है। १०६० ई० में बंगाल के चक्रपाणि दत्त ने 'सुश्रुत' और 'चरक' की टीका लिखने के अतिरिक्त 'सिद्धियोग' के आधार पर 'चिकित्सासारसंग्रह' नामक ग्रंथ लिखा। हमारे

समय के अंत में १२०० ई० के क़रीब 'शार्ङ्गधरसंहिता' लिखी। उसमें अफ़ीम और पारे आदि औषधियों के वर्णन के अतिरिक्त नाड़ी-विज्ञान के भी नियम दिए हैं। पारे का उस समय बहुत प्रचार था। अलबेरूनी ने भी पारे का वर्णन किया है। वनस्पतिशास्त्र के संबंध में कई कोश भी लिखे गए, जिनमें 'शब्दप्रदीप' और 'निघंटु' प्रसिद्ध हैं। हमारे यहाँ शरीर-विद्या ('ऐनाटमी') बहुत उन्नत थी। उस समय के ग्रंथों में हड्डियों, नाड़ियों और सूक्ष्म शिराओं आदि का पूर्ण विवेचन मिलता है।

शल्यविद्या का विकास—शल्यविद्या का भी उस समय आश्चर्य-जनक विकास हो चुका था। 'सुश्रुत' में शल्यविद्या का बहुत वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में आयुर्वेद के जन्मदाता तीन आचार्यों—दिवोदास, भारद्वाज और अश्विनौ—का उल्लेख है[1]। महाभारत में भी भीष्म के शरशय्या पर लेटने पर दुर्योधन का शल्य निकालनेवाले वैद्यों के लाने का उल्लेख है। 'विनयपिटक' के महावग्ग में लिखा है—"अश्वघोष ने एक भिक्षु के भगंदर रोग पर शल्यकर्म का प्रयोग किया था।"[2] उस समय जीवक नाम का बौद्ध भिषक् आयुर्वेद का विशेषतः शल्यचिकित्सा का बड़ा भारी विद्वान् हुआ, जिसका विस्तृत वर्णन महावग्ग में मिलता है। उसने भगंदर, शिरोरोग, कामला आदि विषम रोगों के आराम करने में प्रसिद्धि पाई थी। 'भोजप्रबंध' में बेहोश कर शल्यकर्म करने का उल्लेख है। चीर-फाड़ के शस्त्र साधारण-तया लोहे के बनाए जाते थे, परंतु राजा एवं संपन्न लोगों के लिए स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि के भी प्रयुक्त होते थे। यंत्रों के लिए लिखा है कि वे तेज़, खुरदरे, परंतु चिकने मुखवाले, सुदृढ़, उत्तम रूपवाले और सुगमता से पकड़े जाने के योग्य होने चाहिएँ। भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए शस्त्रों की धार, परि-माण आदि भिन्न-भिन्न होते थे। शस्त्र कुंठित न हो जायँ, इसलिए लकड़ी के शस्त्रकोश ('केसेज़') भी बनाए जाते थे, जिनके ऊपर और अंदर कोमल रेशम या ऊन का कपड़ा लगा रहता था। शस्त्र आठ प्रकार के—छेद्य, भेद्य,

---

[1] **यद यातं दिवोदासाय वर्त्तिं भारद्वाजायश्विनाहयंता।**

ऋग्वेद, म० १-१२-१६

[2] **'एंश्यंट सर्जिकल इंस्ट्रूमेंट्स', जिल्द १**

वेध्य (शरीर के किसी भाग में से पानी निकालना), एष्य (नाड़ी आदि में व्रण का ढूँढ़ना), आर्ह्य (दाँत या पथरी आदि का निकालना), विस्राव्य (रुधिर का विस्रवण करना), सीव्य (दो भागों को सीना) और लैख्य (चेचक के टीके आदि में कुचलना)—हैं। हमारे समय के वाग्भट्ट ने तेरह प्रकार के शल्यकर्म माने हैं। सुश्रुत ने यंत्रों (औज़ार जो चीरने के काम में आते हों) की संख्या १०१ मानी है; परंतु वाग्भट्ट ने ११५ मानकर आगे लिख दिया है कि कर्म अनिश्चित हैं, इसलिए यंत्र-संख्या भी अनिश्चित है; वैद्य अपने आवश्यकतानुसार यंत्र बना सकता है। शस्त्रों की संख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मानी है। इन यंत्रों और शस्त्रों का विस्तृत वर्णन भी उन ग्रंथों में दिया है। अर्श, भगंदर, योनि-रोग, मूत्र-दोष, आर्तव-दोष, शुक्रदोष आदि रोगों के लिए भिन्न-भिन्न यंत्र प्रयुक्त होते थे। व्रणवस्ति, वस्तियंत्र, पुष्पनेत्र (लिंग में औषध प्रविष्ट करने के लिए), शलाका-यंत्र, नखाकृति, गर्भशंकु, प्रजननशंकु (जीवित शिशु को गर्भाशय से बाहर करने के लिए), सर्पमुख (सीने के लिए) आदि बहुत से यंत्र हैं। व्रणों और उदरादि-संबंधी रोगों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की पट्टी बाँधने का भी वर्णन किया गया है। गुदभ्रंश के लिए चर्म-बंधन का भी उल्लेख है। मनुष्य या घोड़े के बाल सीने आदि के लिए प्रयोग में आते थे। दूषित रुधिर निकालने के लिए जोंक का भी प्रयोग होता था। जोंक की पहले परीक्षा कर ली जाती थी कि वह विषैली है अथवा नहीं। टीके के समान मूर्छा में शरीर को तीक्ष्ण अस्त्र से लेखनकर दवाई को रुधिर में मिला दिया जाता था। गतिव्रण ('साइनस') तथा अर्बुदों की चिकित्सा में भी सूचियों का प्रयोग होता था। त्रिकूर्चक शस्त्र का भी कुष्ठ आदि में प्रयोग होता था। आजकल लेखन करते समय टीका लगाने के लिए जिस तीन-चार सुइयोंवाले औज़ार का प्रयोग होता है, वह यही त्रिकूचक है। वर्तमान काल का 'टुथ एलिवेटर' पहले दंतशंकु के नाम से प्रचलित था। प्राचीन आर्य कृत्रिम दाँतों का बनाना और लगाना तथा कृत्रिम नाक बनाकर सीना भी जानते थे। दाँत उखाड़ने के लिए एनीपद शस्त्र का वर्णन मिलता है। मोतियाबिंद ('कैटेरैक्ट') के निकालने के लिए भी शस्त्र था। कमल-नाल का प्रयोग

दूध पिलाने अथवा वमन कराने के लिए होता था, जो आजकल के 'स्टमक पंप' का कार्य देता था[1]।

सर्प-विद्या—इसी तरह सर्प-विद्या का भी प्रचार कम नहीं था। सिकंदर का सेनापति नियार्कस लिखता है कि यूनानी लोग सर्प-विष दूर करना नहीं जानते, परंतु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पड़े, उन सबको भारतीयों ने दुरुस्त कर दिया[2]। दाहक्रिया और उपवास-चिकित्सा से भी भारतीय पूर्णतया परिचित थे। शोथ रोग में नमक न देने की बात भी भारतीय चिकित्सक हज़ार वर्ष पूर्व जानते थे।

पशु-चिकित्सा—पशु-चिकित्सा भी कम उन्नत नहीं थी। इस विषय के भी बहुत ग्रंथ मिले हैं। पालकाप्य-कृत 'गजचिकित्सा', 'गजायुर्वेद', 'गज-दर्पण' (इसका हेमाद्रि ने उल्लेख किया है), 'गजपरीक्षा', बृहस्पति-रचित 'गजलक्षण', 'गोवैद्यशास्त्र', जयदत्त-कृत 'अश्वचिकित्सा', नकुल-लिखित 'शालिहोत्रशास्त्र', 'अश्वतंत्र' (इसका उल्लेख रायमुकुट ने 'अमरकोष' की टीका में किया है), गणरचित 'अश्वायुर्वेद' (सिद्धयोगसंग्रहः), 'अश्वलक्षण', 'हयलीलावती' (मल्लिनाथ ने इसे उद्धृत किया है) आदि के अतिरिक्त भी बहुत से अन्य ग्रंथ मिलते हैं। अधिकांश में ये ग्रंथ हमारे ही समय के हैं। तेरहवीं सदी में पशुचिकित्सा-संबंधी एक संस्कृत ग्रंथ का फ़ारसी में अनुवाद किया गया था। इसमें निम्न लिखित ग्यारह अध्याय हैं—

१—घोड़ों की जाति।

२—उनकी सवारी और उनकी पैदाइश।

३—अस्तबल का प्रबंध।

४—घोड़ों के रंग और जातियाँ।

५—उनके दोष।

६—उनके अंग-प्रत्यंग।

---

[1] जो प्राचीन शल्यचिकित्सा के विषय में विशेष देखना चाहें वे नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, अंक १, २ में प्रकाशित 'प्राचीन शल्य-तंत्र' लेख देखें।

[2] वाइज़, 'हिस्ट्री ऑफ़ मैडिसिन', पृ० ९

७—उनकी बीमारी और चिकित्सा।

८—उनका दूषित रक्त निकालना।

९—उनका भोजन।

१०—उनको हृष्ट-पुष्ट बनाने के साधन।

११—दाँतों से आयु को जानना[१]।

पशु-विज्ञान—पशु-चिकित्सा के साथ-साथ पशु-विज्ञान और कृमिशास्त्र भी अत्यंत उन्नत था। भारतीय विद्वान् पशुओं के स्वभाव, प्रकृति आदि से पूर्णतया परिचित थे। पशुओं के शरीर-विज्ञान को भी वे भली भाँति जानते थे। घोड़े के दाँतों को देखकर उसकी आयु का पता लगाने की प्रथा भारत में पुरानी है। सर्पों की भिन्न-भिन्न जातियाँ उन्हें मालूम थीं। भविष्य पुराण से पाया जाता है कि वे वर्षा ऋतु के पूर्व संग करते हैं और अनुमान ६ मास के बाद सर्पिणी २४० अंडे देती है। बहुत से अंडे तो माता-पिता खा जाते हैं और बचे हुए अंडों से दो मास में बच्चे स्वयं निकल आते हैं। सातवें दिन वे काले हो जाते हैं और १५-२० दिन में उनके दाँत निकल आते हैं। तीन सप्ताहों में उनमें विष उत्पन्न हो जाता है, ६ मास में साँप केंचुली उतारते हैं। उनकी त्वचा पर २४० संधियाँ होती हैं। डल्लसा ने सुश्रुत की टीका करते हुए लाटचायन का उद्धरण देकर लिखा है कि वह कृमियों और सरीसृपों (रेंगनेवाले जंतुओं) के विषय में प्रामाणिक विद्वान् है। उसने कृमियों के भिन्न-भिन्न अंगों पर विचार किया है[२]।

हमारे समय के आसपास का जैन पंडित हंसदेव का लिखा हुआ 'मृगपक्षिशास्त्र' भी अपने विषय का बहुत उपयोगी और प्रामाणिक ग्रंथ है। उसमें सिंहों का वर्णन करते हुए उनके ६ भेद—सिंह, मृगेंद्र, पंचास्य, हर्यक्ष, केसरी और हरि—बताकर उनकी विशेषताएँ बताई हैं। सिंह का वर्णन करते हुए लिखा है कि सिंह के लंबी पूंछ और गर्दन पर घने बाल होते हैं, जो कद के छोटे, सुनहरे वर्णवाले और पीछे की ओर कुछ सफ़ेद होते हैं। बदन पर सर्वत्र कोमल बाल रहते हैं। सिंह बदन के बड़े मजबूत

---

[१] **हरविलास सारडा, 'हिंदू सुपीरियौरिटी', पृ० २५६-५७**

[२] **विनयकुमार सरकार, 'हिंदू एचीवमेंट्स इन एकूजैक्ट साइंसेज', पृ० ७१-७५**

और भागने में तीर से तेज़ होते हैं। भूख लगने पर अत्यंत भयंकर और यौवन काल में विशेष कामुक होते हैं। वे प्रायः गुफाओं में रहते और प्रसन्न होने पर पूछ हिलाया करते हैं। इसी तरह अन्य भी शेर के भेदों का विस्तृत वर्णन करने के बाद शेरनी का वर्णन किया गया है। उसके गर्भ, गर्भकाल, स्वभाव आदि पर भी उक्त ग्रंथ में बहुत प्रकाश डाला गया है।

शेर के वर्णन के अनंतर ग्रंथकर्ता हंसदेव ने व्याघ्र, जरख, भालू, गैंडे, हाथी, घोड़े, ऊँट, गधे, गाय, बैल, भैंस, बकरी, हरिण, गीदड़, बंदर, चूहा आदि अनेक पशुओं और गरुड़, हंस, बाज़, गिद्ध, सारस, कौआ, उल्लू, तोता, कोयल आदि नाना पक्षियों का विस्तृत विवरण दिया है, जिसमें उनकी क़िस्में, वर्ण, युवाकाल, संभोग-योग्य अवस्था, गर्भकाल, उनकी प्रकृति, जाति, आयु तथा उनके भोजन, निवास संबंधी विषयों पर विशेष प्रकाश डाला गया है। हाथी का भोजन गन्ना बतलाया है। हाथी की उम्र सबसे बड़ी १०० वर्ष बतलाई गई है और चूहे की कम से कम डेढ़ वर्ष[1]।

चिकित्सालय—भारतीयों ने ही सबसे पहले औषधालय और चिकित्सालय बनाने प्रारंभ किए थे। फ़ाहियान (ई० स० ४००) ने पाटलिपुत्र के एक औषधालय का वर्णन करते हुए लिखा है कि यहाँ सब ग़रीब और असहाय रोगी आकर इलाज कराते हैं; उन्हें आवश्यकतानुसार औषध दिया जाता है। उनके आराम का पूरा ख़्याल रखा जाता है। यूरोप में सब से पहला औषधालय, विंसेंट स्मिथ के कथनानुसार, दसवीं सदी में बना था। हुएन्त्संग ने भी तक्षशिला, मतिपुर, मथुरा और मुल्तान आदि की पुण्यशालाओं के नाम दिए हैं, जिनमें ग़रीबों और विधवाओं को मुफ़्त औषध, भोजन और वस्त्र दिए जाते थे[2]।

भारतीय आयुर्वेद का यूरोपीय चिकित्सा पर प्रभाव—वर्तमान यूरोपियन चिकित्सा-शास्त्र का आधार भी आयुर्वेद है। लार्ड एंप्थिल ने

---

[1] यह पुस्तक अभी प्राप्त हुई है और पंडित वी० विजयराघवाचार्यजी पुरातत्त्वज्ञ, तिरुपति (मद्रास), से मिल सकती है।

[2] 'नागरीप्रचारिणी-पत्रिका', भाग ८, पृ० १९-२०

एक भाषण में कहा था कि मुझे यह निश्चय है कि आयुर्वेद भारत से अरब में और वहाँ से यूरोप में गया[1]। अरब का चिकित्सा-शास्त्र संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद पर निर्भर था। ख़लीफ़ाओं ने कई संस्कृत ग्रंथों का अरबी में अनुवाद कराया। भारतीय चिकित्सक चरक का नाम लैटिन में परिवर्तित होकर अब भी विद्यमान है[2]। नौशेरवाँ का समकालीन वर्जोह्येह भारत में विज्ञान सीखने के लिए आया था[3]। प्रो० साचू के कथनानुसार अलबेरूनी के पास वैद्यक और ज्योतिष-विषयक संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद विद्यमान थे। अल्मनसूर ने आठवीं सदी में भारत के कई वैद्यक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद कराया। प्राचीन अरब-लेखक सैरेपियन ने चरक को प्रामाणिक वैद्य मानते हुए उसका वर्णन किया है[4]। हारूँ रशीद ने कई भारतीय वैद्यों को अपने यहाँ बुलाया था। अरब से ही यूरोप में आयुर्वेद गया, यह निश्चित है। इस तरह भारतीय आयुर्वेद का यूरोप पर बहुत प्रभाव पड़ा।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हमारे समय में आयुर्वेद सब प्रकार से बहुत उन्नत था। नीचे कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ उद्धृत की जाती हैं। लार्ड एंप्थिल ने एक भाषण में कहा था—हिंदुओं के क़ानून बनानेवाले मनु संसार के सबसे बड़े स्वच्छता के सुधारकों में से एक थे। सर विलियम हंटर लिखते हैं कि भारतीय औषधिशास्त्र शस्त्रविज्ञान के सारे क्षेत्र का वर्णन करता है। इसमें शरीर की बनावट का वर्णन है, भीतरी अवयवों, मांस-पेशियों, पुट्ठों, धमनियों और नाड़ियों का भी विवरण है। हिंदुओं के निघंटु में खनिज, जांतव ('आर्गेनिक') एवं वनस्पतिज औषधियों का बहुत विशद वर्णन मिलता है। उनकी औषधि-निर्माण विद्या के तरीक़े कामिल और ठेठ के हैं, जिनमें औषधियों के वर्गीकरण आदि का बहुत सुंदर वर्णन है।

---

[1] हरविलास सारडा, 'हिंदू सुपीरियौरिटी', पृ० २५८

[2] वही, पृ० २५९

[3] 'हिस्ट्री ऑफ़ हिंदू कैमिस्ट्री', भूमिका भाग, पृ० ७६

[4] रौले; 'एंश्यंट हिंदू मैडिसिन', पृ० ३८

स्वच्छता और पथ्यापथ्य पर भी इसमें विचार किया गया है। प्राचीन भारतीय अंगच्छेद करते थे, रुधिरस्राव को रोक सकते थे और पथरी निकालते थे। अंत्रवृद्धि ('हर्निया'), भगंदर, नाड़ी-व्रण एवं अर्श को वे ठीक कर देते थे। वे मूढ़-गर्भ एवं स्त्रियों के रोगों के सूक्ष्म से सूक्ष्म आपरेशन करते थे[1]। डाक्टर सील लिखते हैं कि विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिए शव-च्छेद होता था, तथा गर्भ-विमोचन और मूढ़-गर्भ के आपरेशन भी होते थे। श्रीयुत वेबर भारतीय शल्य-चिकित्सा की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—'आज भी पाश्चात्य विद्वान् भारतीय शल्यचिकित्सा से बहुत-कुछ सीख सकते हैं, जैसे कि उन्होंने कटी हुई नाक को जोड़ने की विधि भारतीयों से सीखी'[2]।

कामशास्त्र

भारत में जहाँ भौतिक और दार्शनिक विज्ञान इतने अधिक उन्नत थे, वहाँ कामशास्त्र का भी वैज्ञानिक दृष्टि से पर्याप्त विकास हो चुका था। चतुर्वर्ग में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गए हैं। धर्म के संबंध में ऊपर कुछ लिखा जा चुका है। कामशास्त्र पर उपलब्ध ग्रंथों में सबसे प्राचीन वात्स्यायन-प्रणीत 'कामसूत्र' है। वात्स्यायन ने इस शास्त्र या इसके किसी अंग के अपने से पूर्व के प्रणेताओं के नाम दिए हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—औद्दालकि (उद्दालक का पुत्र) श्वेतकेतु, बाभ्रव्य (पांचाल), दत्तक, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गोनर्दीय, कूचुमार आदि। इन सबके ग्रंथों का सार लेकर वात्स्यायन ने हमारे समय से पूर्व कामसूत्र लिखा। इसमें योग्य, अयोग्य स्त्री का निर्णय, स्त्री-पुरुषों के विशेष भेद, रतावस्थापन तथा रति को उत्पन्न करने और स्थिर रखने के उपाय बताए गए हैं। पुरुष-स्वभाव से अपरिचित कन्याओं को मनुष्य किन-किन उपचारों और व्यवहारों से अपने अनुकूल बनावे इसका विशद वर्णन मिलता है। पति के प्रति स्त्री के कर्तव्यों तथा गृहस्थ के योग्य सभी कार्यों का वर्णन एवं उनके रहन-सहन और वार्तालाप पर भी प्रकाश डाला गया है।

---

[1] **'इंडियन गैजेटियर, इंडिया', पृ० २२०**

[2] **वेबर, 'इंडियन लिटरेचर', पृ० २७०**

कामसूत्र में रज और वीर्य का भी वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। संसार की स्थिति का परिचय कराने के लिए पारदारिक, वैशिक और औपरिष्टक प्रकरण लिखे गए हैं। इस वर्णन से यह पता लगता है कि हमारे यहाँ प्राचीन समय में कामशास्त्र कितना विकसित, उन्नत और वैज्ञानिक था।

इस ग्रंथ के बाद इस विषय पर कई और पुस्तकें लिखी गई। हमारे समय के पिछले भाग में कक्कोक (कोका पंडित) नामक विद्वान् ने 'रति-रहस्य' लिखा। आजकल के हिंदी 'कोकशास्त्र' इसी कोका पंडित के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त करनाटक के राजा नरसिंह के समकालीन ज्योतिरीश्वर ने 'पंचसायक' लिखा। बौद्ध पद्मश्री का लिखा हुआ 'नागर-सर्वस्व' भी इस विषय का अच्छा ग्रंथ है। हमारे समय के बाद भी इस विषय की बहुत सी पुस्तकें लिखी गईं, जिनका उल्लेख हमने नहीं किया।

संगीत

संगीत-साहित्य—प्राचीन काल से ही भारतवर्ष ने संगीत-शास्त्र में भी बहुत उन्नति की। संगीत में गान, वाद्य और नृत्य का समावेश होता था। सामवेद का एक भाग गान है, जो सामगान के नाम से प्रसिद्ध है। वैदिक यज्ञों में प्रसंग-प्रसंग पर सामगान होता था। हमारे निर्दिष्ट समय से पूर्व के बहुत से संगीत के विद्वानों—सदाशिव, शिव, ब्रह्मा, भरत, कश्यप, मतंग, याष्टिक, दुर्गा, शक्ति, नारद, तुंबरु, विशाखिल, रंभा, रावण, क्षेत्रराज आदि—के नाम 'संगीतरत्नाकर' में शार्ङ्गदेव ने उद्धृत किए हैं। वे संगीत के पुराने आचार्य माने गए हैं। अपने समय से पूर्व का यह परिचय देने से हम जान सकेंगे कि हमारे निर्दिष्ट समय तक संगीत का बहुत कुछ विकास हो चुका था।

हमारे निर्दिष्ट काल में भी संगीत पर बहुत से ग्रंथ लिखे गए, जो आज उपलब्ध नहीं हैं, परंतु उनका पता संगीताचार्य शार्ङ्गदेव के 'संगीतरत्नाकर' से लगता है। वह उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त हमारे काल के रुद्रट (९५० ई०), नान्यदेव (१०९६ ई०), राजा भोज (११वीं शताब्दी), परमर्दी (चंदेल, ११६७ ई०), सोमेश (११७० ई०), जगदेकमल्ल (११३८ ई०), लोल्लट, उद्भट (८०० ई०), शंकुक, अभिनवगुप्त

(९९३ ई०) और कीर्तिधर तथा दूसरे संगीताचार्यों का भी उल्लेख करता है। 'संगीतरत्नाकर' देवगिरि के यादव राजा सिंघण के, जिसका राज्याभिषेक ई० स० १२०७ में हुआ था, दरबार के गायनाचार्य शार्ङ्गदेव ने लिखा था अतएव वह हमारे काल की संगीत की स्थिति का बोधक है। उसमें शुद्ध सात और विकृत बारह स्वर, वाद्यादि के चार भेद, स्वरों की श्रुति और जाति, ग्राम, मूर्छना, प्रस्तार, राग, गायन, गीत के गुण-दोष, ताल, नर्तन और इस समय तक प्रचलित वाद्यों के नाम आदि संगीत-संबंधी अनेक ज्ञातव्य एवं उपयोगी बातों का वर्णन किया गया है, जिनसे हमारे निर्दिष्ट समय के संगीत-ज्ञान की उन्नत अवस्था का पता चलता है।

नृत्य—संगीत के तीसरे अंश नृत्य का भी वैज्ञानिक पद्धति पर पूर्ण विकास हो चुका था। अष्टाध्यायीकार पाणिनि (६०० ई० पूर्व) के समय में भी शिलाली और कृशाश्व के 'नटसूत्र' विद्यमान थे। भरत का 'नाट्य-शास्त्र' प्रसिद्ध है। उसके अतिरिक्त दंतिल, कोहिल आदि के नाट्य-नियमों के ग्रंथ मिलते हैं। नाट्यशास्त्र के आधार पर भास, कालिदास, भवभूति आदि अनेक कवियों के सैकड़ों नाटकों की रचना हुई। शिवजी का उद्धत नृत्य 'तांडव' और पार्वती आदि का सुकुमार नृत्य 'लास्य' कहलाया।

राजनीति

राजनीति-शास्त्र पर भी कई प्राचीन ग्रंथ मिले हैं। इसे नीतिशास्त्र या दंडनीति कहा जाता था। अर्थशास्त्र भी पहले नीतिशास्त्र के लिए प्रयुक्त होता था। हमारे यहाँ अर्थशास्त्र का भी बहुत विकास हो चुका था। 'महाभारत' का शांतिपर्व राजनीति का एक उत्कृष्ट प्रामाणिक ग्रंथ कहा जा सकता है। इस विषय पर सब से अधिक प्राचीन और अत्यंत महत्व-पूर्ण ग्रंथ, जिसे प्रकाशित हुए अभी १५ वर्ष से अधिक नहीं हुए 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र' है। इसके प्रकाशित होते ही भारतीय इतिहास में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। हमारे समय से बहुत पूर्व का होने के कारण हम इस पर विचार नहीं करते। हमारे समय के आसपास कामंदक ने 'नीति-सार' नामक छंदोबद्ध ग्रंथ लिखा। कामंदक ने कौटिल्य को गुरु माना है।

दसवीं सदी में सोमदेव सूरि ने 'नीतिवाक्यामृत' नामक एक अत्यंत उत्कृष्ट ग्रंथ की रचना की। हेमचंद्र ने 'लघुअर्हन नीतिशास्त्र' नाम से राजनीति पर एक छोटा-सा ग्रंथ लिखा। नीति-विषयक इन ग्रंथों में राष्ट्र, राष्ट्र की उत्पत्ति के मात्स्यन्याय आदि भिन्न-भिन्न सिद्धांत, राज्य के सात अंग—स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड और मित्र—तथा राजा के कर्तव्य और अधिकार, संधि और युद्ध आदि अनेक ज्ञातव्य एवं उपयोगी प्रश्नों पर विचार किया गया है।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त साहित्य के बहुत से ग्रंथों में राजनीति के उत्तम सिद्धांत दिए गए हैं, जिनमें से 'दशकुमारचरित', 'किरातार्जुनीय', 'मुद्रा-राक्षस' आदि मुख्य हैं।

क़ानूनी साहित्य

काव्य, दर्शन, कलाकौशल-संबंधी साहित्य के विकास के अतिरिक्त राजनीति और नियम (कानून, धर्म) विषयक साहित्य भी बहुत उन्नत था। राजनीतिक दृष्टि से भारत को पर्याप्त उन्नत देखते हुए क़ानूनी साहित्य का विकास स्वाभाविक जान पड़ता है। भारत की राजनीतिक उन्नति पर आगे चलकर विचार करेंगे।

धर्म शब्द बहुत व्यापक है। अँगरेज़ी के 'रिलिजियन' और 'ला' दोनों इसके अंतर्गत हैं। धर्मशास्त्रों में धार्मिक नियम ही नहीं, किंतु राजनीतिक और सामाजिक नियम भी विस्तारपूर्वक लिखे हुए हैं। हमारे निर्दिष्ट समय से पूर्व आपस्तंब और बौधायन के सूत्र लिखे जा चुके थे। इसी तरह गौतम और वशिष्ठ के सूत्र भी बन चुके थे। प्राचीन ग्रंथों में से 'मनुस्मृति' के समान किसी ग्रंथ का सम्मान और प्रचार नही हुआ। इस पर कई टीकाएँ भी लिखी गई। हमारे समय की टीकाओं में मेधातिथि (नवीं शताब्दी) और गोंविदराज (ग्यारहवीं सदी) की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। इस स्मृति का प्रचार भारत में ही नहीं प्रत्युत बर्मा, जावा और बालि द्वीप में भी हुआ था। हमारे समय के आसपास 'याज्ञवल्क्यस्मृति' बनी। इसमें मनु की अपेक्षा अधिक उन्नत पद्धति मिलती है। इसमें तीन

विभाग—आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय और प्रायश्चित्ताध्याय—हैं। आचाराध्याय में वर्णाश्रम-धर्म, भक्ष्याभक्ष्य-विचार, दान, शुद्धि, ग्रहशांति, राजधर्म आदि बातों पर विचार किया गया है। व्यवहाराध्याय में क़ानून-संबंधी सभी बातों का विस्तृत विवेचन है। इसमें न्यायालय और उसके नियम, अभियोग, गवाही, सफ़ाई, ऋण का लेन-देन, व्याज, चक्रवृद्धि व्याज, तमस्सुक आदि, दिव्यसाक्षि, उत्तराधिकार-संबंधी प्रश्न, स्त्री के संपत्ति-संबंधी अधिकार, सीमा-विवाद-संबंधी निर्णय, स्वामी और सेवकों तथा ज़मींदारों और किसानों के पारस्परिक विवाद, वेतन, द्यूत, कठोर वचन कहने, कठोर दंड देने, चोरी, व्यभिचार तथा अन्य प्रकार के अपराध करने पर दंड और सहकारी संघों के नियम तथा कर आदि का अच्छी तरह से विवेचन किया गया है। प्रायश्चित्ताध्याय में सामाजिक नियमों पर विचार किया गया है। इस उत्तम ग्रंथ की टीका विज्ञानेश्वर (ग्यारहवी सदी) ने 'मिताक्षरा' नाम से की। मिताक्षरा को उसकी टीका कहने की अपेक्षा उसके आधार पर एक स्वतंत्र ग्रंथ कहना अधिक अच्छा होगा। विज्ञानेश्वर ने प्रत्येक बात पर वहुत विचार किया है। स्थल-स्थल पर उसने हारीत, शंख, देवल, विष्णु, वसिष्ठ, यम, व्यास, बृहस्पति, पराशर आदि अनेक स्मृतिकारों के भी प्रमाण उद्धृत किए हैं। इनमें से कुछ स्मृतियाँ हमारे समय में बनीं। लक्ष्मीधर ने बारहवीं शताब्दी में 'स्मृतिकल्पतरु' नामक एक ग्रंथ लिखा। ये स्मृतियां धर्मस्मृतियों का भी काम देती थीं। पिछली स्मृतियों में छूत-छात आदि को प्राधान्य दिया जाने लगा था।

अर्थशास्त्र

वार्ता ('इकनामिक्स') की भी, जिसे आजकल अर्थशास्त्र कहते हैं, पहले कम उन्नति नहीं हुई थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसके लिए वार्ता नाम मिलता है। यूरोप के वर्तमान अर्थशास्त्र में उत्पत्ति ('प्रोडक्शन') विनिमय ('इक्सचेंज'), वितरण ('डिस्ट्रीब्यूशन'), और व्यय ('कंज़ंप्शन') मुख्य विषय हैं, परंतु पहले केवल उत्पत्ति ही मुख्यतः अर्थशास्त्र समझा जाता था। वार्ता में भी उत्पत्ति को मुख्यता दी जाती थी।

कृषि, शिल्प, व्यवसाय और पशुपालन प्राचीन वार्ता के मुख्य अंग थे। व्यापार और कुसीद ('मनी-लेंडिंग') की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी। वार्ता-शास्त्र के नाम से हमें कोई ग्रंथ नहीं मिलता, इससे यह अभिप्राय नहीं है कि इस विषय का कोई ग्रंथ था ही नहीं। आन्वीक्षिकी, त्रयी और दंडनीति के नाम से भी कोई ग्रंथ नहीं मिलते, परंतु इनके विषयों पर भिन्न-भिन्न ग्रंथ पाए जाते हैं। इसी तरह वार्ता या अर्थशास्त्र के संबंध में भी उसकी भिन्न-भिन्न शाखाओं पर अनेक ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। कृषि के संबंध में 'पादपविवक्षा', 'वृक्षदोहद', 'वृक्षायुर्वेद', 'शस्यानंद', 'कृषिपद्धति' और 'कृषिसंग्रह' आदि ग्रंथ मिलते हैं। भवन-निर्माण-शास्त्र तथा शिल्प पर 'वास्तु-सौख्य', 'अपराजित वास्तुशास्त्र', 'प्रासादानुकीर्तन', 'चक्रशास्त्र', 'चित्रपट', 'जलार्गल', 'पक्षिमनुष्यालयलक्षण', 'रथलक्षण', 'विमानविद्या', 'विमान-लक्षण' (ये दोनों ध्यान देने योग्य हैं), 'विश्वकर्मीय', 'कौतुकलक्षण', 'मूर्ति-लक्षण', 'प्रतिमाद्रव्यादिवचन', 'सकलाधिकार', सारस्वतीय 'शिल्पशास्त्र', 'विश्वविद्याभरण', 'विश्वकर्मप्रकाश' और 'समरांगणसूत्रधार' (इसके विषय में ऊपर लिखा जा चुका है) के अतिरिक्त 'मयशिल्प' और 'विश्वकर्मीय शिल्प' ग्रंथ मिलते हैं। मयशिल्प में शिल्प के लक्षण, भूमिपरीक्षा, भूमिमापन, दिशानिर्णय, ग्राम और नगर का विस्तार, भवनों के भिन्न-भिन्न अंग, दुमंज़िले तिमंज़िले मकान, द्वार आदि, और 'विश्वकर्मीय शिल्प' में मंदिरों, भिन्न-भिन्न मूर्तियों तथा उनके आभूषणों आदि पर विचार किया गया है। इन ग्रंथों में से बहुतों के समय अज्ञात या अनिश्चित हैं, परंतु संभवतः इनमें से अनेक हमारे समय के बने हुए होंगे।

रत्नपरीक्षा पर भी भिन्न-भिन्न ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें से 'रत्नादि-परीक्षा', 'रत्नपरीक्षा', 'मणिपरीक्षा', 'ज्ञानरत्नकोष', 'रत्नदीपिका' और 'रत्नमाला' आदि ग्रंथ मुख्य हैं। धातुविज्ञान ('मेटालर्जी') भी कम उन्नत नहीं था। इस विषय पर भी कुछ ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें से कुछ ये हैं— 'लोहरत्नाकर', 'लोहार्णव' और 'लोहशास्त्र'। भूमिमापन ('सर्वे') के संबंध में भी ग्रंथ 'क्षेत्रगणितशास्त्र' मिलता है। नौ-निर्माण ('शिप-बिल्डिंग') पर भी 'नौशास्त्र' आदि ग्रंथ मिलते हैं। व्यापार के संबंध में

द्रविड़ भाषा में 'वैश्यारपेरूमई' ग्रंथ मिलता है, जिसमें व्यापार-विषयक बहुत सी उपयोगी बातों का विवेचन किया गया है।

प्राकृत

पहले कहा जा चुका है कि संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत भाषा का हमारे निर्दिष्ट समय में बहुत प्रचार था। इसके भी विद्वानों का राज-दरबारों में समुचित सम्मान होता था। अब यहाँ संक्षेप में प्राकृत साहित्य पर विचार करेंगे।

प्राकृत साहित्य का विकास—प्राकृत भाषा का साहित्य हमारे निर्दिष्ट समय से पूर्व भी बहुत उन्नति की अवस्था तक पहुँच चुका था। प्राकृत भाषा कई शाखाओं में विभक्त है। ये विभाग प्रायः देशभेद या कालभेद से हुए थे। महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश लौकिक अर्थात् उस समय की प्रचलित भाषा में दिए थे, जिसको पुरानी प्राकृत कहना चाहिए। यह भाषा बहुधा संस्कृत का कुछ बिगड़ा हुआ रूप ही थी, जिसे संस्कृत न जाननेवाले लोग बोला करते थे। कई एक विद्वान् उसे पाली भाषा भी कहते हैं। और लंका, बर्मा, स्याम आदि देशों के हीनयान बौद्धों के धर्मग्रंथ इसी भाषा में लिखे गए। इसका सब से प्राचीन व्याकरण कच्चायन (कात्यायन) नामक विद्वान् ने बनाया था। अशोक की धर्माज्ञाएँ भी उस समय की प्रचलित प्राकृत भाषा में लिखी गई थीं। संभव है, उनकी मूल प्रतियाँ उस समय की राजकीय भाषा में लिखी गई हों, परंतु उसके राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों में भेजे जाने पर वहाँ के अधिकारियों ने अपने-अपने प्रदेश के लोगों के ठीक-ठीक समझने के लिए शब्दों में कहीं-कहीं परिवर्तन कर उन्हें भिन्न-भिन्न स्थानों में, कहीं-कहीं पर्वतीय चट्टानों, स्तंभों आदि पर खुदवाया। अशोक के समय तक भी प्राकृत भाषा का संस्कृत के साथ निकट का संबंध था। पीछे से उन भाषाओं के विकास के साथ उनमें परस्पर अंतर बढ़ता गया, जिससे देशभेद के अनुसार उनके अलग-अलग नाम स्थिर किए गए, जो ये हैं—मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची, आवंतिक और अपभ्रंश।

मागधी—मागधी मगध और उसके आसपास के प्रदेशों की जनता की

भाषा थी। प्राचीन मागधी अशोक के लेखों में मिलती है। उसके पीछे की मागधी का कोई ग्रंथ अब तक उपलब्ध नहीं हुआ। साधारणतः संस्कृत के नाटकों में छोटे दर्जे के सेवक, धीवर, सिपाही, विदेशी, जैनसाधु और बच्चों आदि से यह भाषा बुलाई जाती है। 'अभिज्ञानशाकुंतल, 'प्रबोधचंद्रोदय', 'वेणीसंहार' और 'ललितविग्रहराज' आदि में प्रसंगवशात् यह भाषा मिलती है। इस भाषा मे भी पीछे से कुछ भेद हो गए, जिनमें मुख्य अर्धमागधी है, जो मागधी और शौरसेनी का मिश्रण होने से ही अर्धमागधी कहलाई। जैनों के आगम नामक धर्मग्रंथ इसी अर्धमागधी में मिलते हैं। 'पउमचरीय' नामक पुराना जैनकाव्य इसी भाषा में लिखा गया है। राजा उदयन की कथा भी इसी भाषा में है।

शौरसेनी—शौरसेनी प्राकृत शूरसेन अथवा मथुरा प्रदेश के आसपास की भाषा थी, और संस्कृत नाटकों में स्त्रियों तथा विदूषकों के संभाषण में (गद्य) 'रत्नावली', 'अभिज्ञानशाकुंतल' और 'मृच्छकटिक' आदि में उसका प्रयोग मिलता है। इस भाषा का कोई स्वतंत्र नाटक नहीं मिलता। दिगंबरी जैनों का वहुत-कुछ साहित्य इस भाषा में मिलता है, जिसमें मुख्य ग्रंथ 'पवयनसार' और 'कत्तिकेयानुपेक्खा' आदि हैं।

महाराष्ट्री—महाराष्ट्री प्राकृत का नाम महाराष्ट्र देश से पड़ा। इस भाषा का उपयोग विशेष कर प्राकृत काव्यों के लिए होता था। हाल की 'सतसई' (सप्तशती), प्रवरसेन-कृत 'रावणवहो' ('सेतुबंध') वाक्पतिराज का 'गौड़वहो' तथा हेमचंद्र का 'प्राकृतद्वयाश्रय' आदि काव्य तथा 'बज्जालग्ग' नामक प्राकृत का सुभाषित-ग्रंथ इसी भाषा में लिखे गए हैं। राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' में, जो विशुद्ध प्राकृत का सट्टक है, हरिउद्ध (हरिवृद्ध) और नंदिउद्ध (नंदिवृद्ध), पोतिष आदि प्राकृत लेखकों के नाम मिलते हैं, परंतु उनके ग्रंथों का पता नहीं चला। महाराज भोज-रचित 'कूर्मशतक' तथा दूसरा 'कूर्मशतक', जिसके कर्ता का नाम मालूम नहीं हुआ और जो दोनों शिलाओं पर खुदे हुए धार में भोज की बनवाई हुई 'सरस्वतीकंठाभरण' नामक पाठशाला से मिले हैं, महाराष्ट्री में हैं। महाराष्ट्री का एक भेद जैन महाराष्ट्री है, जिसमें श्वेतांबरों की कथा, जीवनचरित आदि के संबंध में

ग्रंथ मिलते हैं। जोधपुर राज्य के घटियाला गाँव से मिला हुआ मंडोर के प्रतिहार राजा कक्कुट का ई० सं० ८६१ का शिलालेख भी इसी भाषा में लिखा गया है।

पैशाची—पैशाची भाषा काश्मीर तथा भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर विभाग की लौकिक भाषा थी। इसका प्रसिद्ध ग्रंथ गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' है, जो अब तक उपलब्ध नहीं हुआ। संस्कृत में उसके दो कविताबद्ध संक्षिप्त अनुवाद काश्मीर में हुए, जो क्षेमेंद्र और सोमदेव-द्वारा किए गए थे।

आवंतिक—आवंतिक भाषा अवंती देश अर्थात् मालवा की थी। इसको चूलिका-पैशाची या भूतभाषा भी कहते थे, जिसका प्रयोग 'मृच्छकटिक' आदि में पाया जाता है। राजशेखर एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करता है, जिसमें भूतभाषा (चूलिका-पैशाची) के अवंती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा और चंबल का निकास) और दशपुर (मंदोसर) में प्रचार होने का उल्लेख है[1]। ईसवी सन् पूर्व की दूसरी शताब्दी के आसपास पंजाब में रहनेवाली मालव नाम की जाति ने राजपूताना में होते हुए अवंती देश पर अपना राज्य स्थिर किया, जिससे उस देश का नाम मालवा प्रसिद्ध हुआ। संभव है, पैशाची भाषा बोलने वाले मालव लोगों की भाषा का प्रवेश उस देश में हुआ हो और समय के साथ उसमें कुछ परिवर्तन होने के कारण उसका नाम चूलिका-पैशाची रखा गया हो। इसको पैशाची का एक भेद ही कहना चाहिए।

अपभ्रंश—अपभ्रंश भाषा का प्रचार लाट (गुजरात में), सुराष्ट्र, त्रवण (मारवाड़ में), दक्षिणी पंजाब, राजपूताना, अवंती, मंदोसर आदि में था। वस्तुतः अपभ्रंश किसी एक देश की भाषा नहीं, किंतु ऊपर लिखी हुई मागधी आदि भिन्न-भिन्न प्राकृत भाषाओं के अपभ्रंश या बिगड़े हुए रूपवाली मिश्रित भाषा का नाम है। उसका प्रायः भारत के दूर-दूर के विद्वान् प्रयोग करते थे। राजपूताना, मालवा, काठियावाड़ और कच्छ आदि के चारणों तथा भाटों के डिंगल भाषा के गीत इसी भाषा के पिछले विकृत रूप

---

[1] **'नागरीप्रचारिणी-पत्रिका', भाग २, पृ० १०**

में हैं। पुरानी हिंदी भी अधिकांश इसी से निकली है। इस भाषा का साहित्य बहुत विस्तृत मिलता है, जो बहुधा कविताबद्ध है। इसमें दोहा छंद प्रधान है। इस भाषा का सबसे वृहत् और प्रसिद्ध ग्रंथ 'भविसयत्तकहा' है, जिसे धनपाल ने दसवीं सदी में लिखा। महेश्वरसूरि-कृत 'संजममंजरी' पुप्फदंत (पुष्पदंत)-विरचित 'तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार', नयनंदी-निर्मित 'आराधना', योगींद्रदेव-लिखित 'परमात्मप्रकाश', हरिभद्र का 'नेमिनाहचरिउ', वरदत्त-रचित 'वैरसामिचरिउ', 'अंतरंगसंधि', 'सुलसाखायन', 'भवियकुटुंबचरित', 'संदेशशतक' और 'भावनासंधि' आदि भी इसी भाषा के ग्रंथ हैं।[1] इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न ग्रंथों—सोमप्रभ का 'कुमारपालप्रबोध', रत्नमंदिरमणि की 'उपदेशतरंगिणी', लक्ष्मणगारी-कृत 'सुपासनाहचरियम्', 'दोहाकोष', कालिदास का 'विक्रमोर्वशीय' (चतुर्थ अंक), हेमचंद्र-लिखित 'कुमारपालचरित' (प्राकृत द्व्याश्रयकाव्य), 'कालकाचार्यकहा' और 'प्रबंधचिंतामणि' आदि—में स्थल स्थल पर अपभ्रंश का प्रयोग किया गया है। हेमचंद्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश के जो १७५ उदाहरण दिए हैं, वे भी अपभ्रंश साहित्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। उनसे मालूम पड़ता है कि अपभ्रंश साहित्य बहुत विस्तृत और उन्नत था। उन उदाहरणों में श्रृंगार, वीरता, रामायण और महाभारत के अंश, हिंदू और जैनधर्म तथा हास्य के नमूने मिलते हैं। इस भाषा के साहित्य में प्रायः जैनियों ने बहुत परिश्रम किया।

प्राकृत व्याकरण—प्राकृत भाषा की उन्नति के साथ उसके व्याकरण का भी उन्नत होना आवश्यक था। हमारे समय से कुछ पूर्व वररुचि ने 'प्राकृतप्रकाश' नामक प्राकृत भाषा का व्याकरण लिखा है। उसमें लेखक ने महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी के नियमों का वर्णन किया है। लंकेश्वर-कृत 'प्राकृतकामधेनु', मार्कंडेय-कृत 'प्राकृतसर्वस्व' और चंड-कृत 'प्राकृतलक्षण' आदि भी प्राकृत व्याकरण के उत्तम ग्रंथ हैं। प्रसिद्ध विद्वान्

---

[1] **'भविसयत्तकहा', भूमिका, पृ० ३५-४६ ('गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़' में प्रकाशित संस्करण)**

हेमचंद्र ने संस्कृत व्याकरण 'सिद्धहेमचंद्रानुशासन' लिखते हुए उसके अंत में प्राकृत व्याकरण लिखा। उसमें 'सिद्धांतकौमुदी' की तरह विषय-विभाग से सूत्रों का क्रम है। हेमचंद्र ने पहले महाराष्ट्री के नियम लिखे। आगे शौरसेनी के विशेष नियम लिखकर लिखा कि 'शेषं प्राकृतवत्'। फिर मागधी के विशेष नियम लिखकर लिखा—'शेषं शौरसेनीवत्'। इसी तरह पैशाची, चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश के विशेष नियम लिखे तथा अंत में सब प्राकृतों को लक्ष्य में रखकर लिखा कि 'शेषं संस्कृतवत्सिद्धम्'। संस्कृत और दूसरी प्राकृतों के व्याकरण में तो उसने अपनी वृत्ति में उदाहरणों की तरह प्रायः वाक्य या पद दिए हैं, किंतु अपभ्रंश के अंश में उसने बहुधा पूरी गाथाएँ, पूरे छंद और अवतरण दिए हैं।

प्राकृत कोष—प्राकृत भाषा के कई कोष भी लिखे गए हैं। धनपाल ने ९२७ ई० में 'पाइयलच्छीनाममाला' लिखी। अवंतिसुंदरी (राजशेखर की स्त्री) ने प्राकृत कविता में आनेवाले देशी शब्दों का कोष बनाया था और उसमें प्रत्येक शब्द के प्रयोग के स्वरचित उदाहरण दिए थे। यह कोष अब उपलब्ध नहीं है। हेमचंद्र ने अपने कोष में उसका मत भी उद्धृत किया है। हेमचंद्र ने भी प्रांतीय भाषाओं के संग्रह का 'देशीनाममाला' नामक ग्रंथ लिखा। कविताबद्ध होने के अतिरिक्त उसके शब्द अकारादि क्रम से रखे गए हैं और उनमें भी पहले दो-दो अक्षरों के, फिर तीन-तीन के, तदनंतर चार-चार अक्षरों के शब्द दिए हैं। यह देशी भाषा के अध्ययन के लिए बहुत उपयोगी कोष है। पाली का भी एक कोष मौग्गलायन ने 'अभिधानप्पदीपिका' नाम से १२०० ई० के क़रीब लिखा, जिसमें 'अमरकोष' की शैली का अनुकरण किया गया है।

दक्षिण भारत की भाषाएँ

उत्तर भारत की भाषाओं के साहित्य का विवेचन करने के बाद दक्षिण भारत की द्रविड़ भाषाओं का वर्णन करना भी आवश्यक है। द्रविड़ भाषाओं के साहित्य में हमें विस्तृत सामग्री नहीं मिलती, इसलिए हम बहुत संक्षेप से इन पर विचार करेंगे।

तामिल—दक्षिण भारत की द्रविड़ भाषाओं में सबसे मुख्य और प्रथम तामिल भाषा है। यह तामिल प्रदेश में बोली जाती है। इसकी प्राचीनता के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसका सब से प्राचीन व्याकरण 'तोलकाप्पियम' है, जिसका कर्ता प्रचलित दंतकथाओं के आधार पर ऋषि अगस्त्य का शिष्य माना जाता है। इसके पढ़ने से मालूम होता है कि तामिल साहित्य का भी विस्तृत इतिहास था। इस भाषा का सब से प्राचीन ग्रंथ 'नालदियार' मिलता है। यह पहले बहुत बड़ा ग्रंथ था, अब इसके कुछ अंश ही रह गए हैं। दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ ऋषि तिरुवल्लुकर का 'कुरल' है, जो वहां वेद की तरह पवित्र दृष्टि से देखा जाता है। उसमें तीनों वर्गों, धर्म, अर्थ और काम के संबंध में अत्यंत उपयोगी उपदेश हैं। वह तामिल साहित्य का अत्यंत उत्कृष्ट ग्रंथ है। उसका कर्ता जाति का अंत्यज माना जाता है और संभवतः वह जैन था। किसी अज्ञात कवि-कृत 'चिंतामणि', कंबन-कृत 'रामायणम्', 'दिवाकरम्' 'तामिलव्याकरण' आदि भी इसी भाषा के हमारे समय के ग्रंथ हैं। इसमें कई ऐतिहासिक काव्य भी लिखे गए, जिनमें से कुछ के नाम नीचे दिए जाते हैं—पोइकयार-कृत 'कलत्रलिनाडपटु' (सातवीं सदी के आसपास), जयकौंडान-लिखित 'कलिंगत्तुपरणी' (ग्यारहवीं शताब्दी), 'विक्रम शोलनुला' (बारहवीं सदी) और 'राजराजनुला' (बारहवीं सदी)[1]। इस साहित्य को प्रायः जैनियों ने ही बढ़ाया फिर वहां शैवधर्म का प्रचार हो गया।

तामिल लिपि के अत्यंत अपूर्ण होने के कारण उसमें संस्कृत भाषा नहीं लिखी जा सकती थी, इसलिए उसके लिखने के लिए नई 'ग्रंथलिपि' का निर्माण किया गया जिसमें सब ग्रंथ लिखे जाने लगे।

मलयालम् के साहित्य ने भी तामिल कविता का अनुकरण किया, परंतु इसमें शीघ्र ही संस्कृत शब्दों की बहुलता आ गई। इसका हमारे निर्दिष्ट समय का कोई ग्रंथ ऐसा उपलब्ध नहीं है जो उल्लेख्य हो।

कनड़ी—तामिल-साहित्य की भाँति कनड़ी भाषा के साहित्य को भी

---

[1] मेरी 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री', पृ० २९-३०

जैनियों ने अधिक उन्नत किया। इसके साहित्य में काव्य, अलंकार तथा व्याकरण आदि के ग्रंथ मिलते हैं। दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष (प्रथम) ने नवीं शताब्दी में अलंकार विषय पर 'कविराजमार्ग' लिखा। साहित्यिक ग्रंथों के अतिरिक्त जैन, लिंगायत, शैव और वैष्णवों के सांप्रदायिक ग्रंथ भी इस भाषा में मिलते हैं। इनमें मुख्य ग्रंथ लिंगायत संप्रदाय के प्रथम आचार्य बसव का बनाया हुआ 'बसवपुराण' है। सोमेश्वर का 'शतक' भी एक अच्छा ग्रंथ है। कवि पंप का 'पंपभारत' या 'विक्रमार्जुनविजय' भी हमारे समय का काव्य है और दुर्गसिंह-कृत 'पंचतंत्र' का अनुवाद भी हमारे समय में हुआ। इस भाषा पर संस्कृत का बहुत प्रभाव पड़ा और इसमें संस्कृत के बहुत से ग्रंथों का अनुवाद हुआ[1]।

तैलगू—तैलगू आंध्र प्रांत में बोली जाती है। इसके साहित्य पर भी संस्कृत का प्रभाव बहुत पड़ा। इसका प्राचीन साहित्य अधिक उपलब्ध नहीं हो सका। पूर्वी सोलंकी राजा राजराज ने ११वीं शताब्दी में अन्य विद्वानों की सहायता लेकर ननियभट्ट (नन्नप्प) से 'महाभारत' का अनुवाद इस भाषा में कराया[2]।

शिक्षा

संपूर्ण साहित्य के संक्षिप्त वर्णन के बाद तत्कालीन शिक्षा, शिक्षापद्धति और शिक्षणालयों का भी कुछ विवेचन किया जाता है।

हमारे समय के प्रारंभ में शिक्षा का सर्वसाधारण में बहुत प्रचार था। गुप्त राजाओं ने शिक्षा के प्रचार के लिए बहुत प्रयत्न किया। उस समय भारतवर्ष संसार के सब देशों में सब से अधिक शिक्षित था। चीन, जापान और सुदूर पूर्वी देशों से पढ़ने के लिए विद्यार्थी भारत में आया करते थे। बौद्ध आचार्य तथा हिंदू तपस्वी और संन्यासी शिक्षा देने में विशेष भाग लेते थे। उनका प्रत्येक संघाराम या मठ एक-एक शिक्षणालय बना हुआ था। प्रत्येक बड़े शहर में कई संघाराम होते थे। हुएन्त्संग लिखता है कि कन्नौज में ही कई हज़ार विद्यार्थी संघारामों में पढ़ते थे। मथुरा में २००० विद्यार्थी अध्ययन करते थे।

---

[1] **'इंपीरियल गैज़ेटियर', जिल्द २, पृ० ४३४-३७**

[2] **'एपिग्राफ़िया इंडिका', जिल्द ५, पृ० ३२**

चीनी यात्रियों के वर्णनों से पता लगता है कि भारत में ५००० मठ या विद्यालय थे, जिनमें २,१२,१३० विद्यार्थी पढ़ते थे। हुएन्त्संग ने भिन्न-भिन्न बौद्ध संप्रदायों के मठों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या भी दी है[1]। विद्वान् ब्राह्मणों के घर और जैन यतियों के उपाश्रय भी छोटी-छोटी पाठशालाओं का काम देते थे। राजाओं की तरफ़ से भी विद्यालय स्थापित थे। इस तरह प्रायः जगह-जगह संपूर्ण भारत में छोटे-बड़े शिक्षणालय विद्यमान थे, जिनसे शिक्षा का प्रचार बहुत होता था।

नालंद विश्वविद्यालय—केवल छोटे-छोटे शिक्षणालय ही नहीं, किंतु आजकल के विश्वविद्यालयों की समता करनेवाले बड़े-बड़े विश्वविद्यालय भी होते थे। ऐसे विश्वविद्यालयों में नालंद, तक्षशिला, विक्रमशील, धनकटक (दक्षिण में) आदि के नाम मुख्य हैं। हुएन्त्संग ने नालंद विश्वविद्यालय का विस्तृत वर्णन किया है, जिसका सारांश हम यहां उद्धृत करते हैं, जिससे तत्कालीन शिक्षणालयों के विषय में कुछ ज्ञान हो जाय।

प्रारंभ में नालंद विश्वविद्यालय मगध के राजा शक्रादित्य ने बनाया था, उसके पीछे के राजाओं ने भी उसे बहुत सहायता दी। नालंद विश्वविद्यालय के अधिकार में २०० से अधिक गाँव थे, जो अनेक राजाओं ने दान दिए थे। इन्हीं गाँवों की आय से उसका व्यय चलता था। वहां १०,००० विद्यार्थी और १,५०० अध्यापक रहते थे। सुदूर विदेशों से भी विद्यार्थी यहां पढ़ने के लिए आते थे। चारों ओर ऊँचे ऊँचे विहार और मठ बने हुए थे। बीच-बीच में सभागृह और विद्यालय थे। उनके चारों ओर बौद्ध-शिक्षकों और प्रचारकों के निवास के लिए चौमंज़िली इमारतें थीं। रंग-बिरंगे दरवाज़ों, कड़ियों, छतों और खंभों की सुंदरता देखकर लोग मोहित हो जाते थे। वहां कई बड़े-बड़े पुस्तकालय और छः बड़े-बड़े विद्यालय थे। विद्यार्थियों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था, किंतु उलटे उन्हें प्रत्येक आवश्यक वस्तु—भोजन, वस्त्र, औषध और निवासस्थान आदि—मुफ़्त दी जाती थी। उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों को एक अच्छा

---

[1] **राधाकुमुद मुकर्जी, 'हर्ष', पृ० १२४-२७**

कमरा और छोटी श्रेणी के विद्यार्थियों को साधारण कमरा दिया जाता था[1]।

इस विश्वविद्यालय में संपूर्ण बौद्ध-साहित्य के अतिरिक्त वेद, गणित, ज्योतिष, तर्कशास्त्र (हेतुविद्या) व्याकरण, वैद्यक आदि अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। वहां ग्रह, नक्षत्र आदि देखने का भी बड़ा भारी स्थान था। वहां की जलघड़ी मगधवासियों को समय का परिचय देती थी। उसमें प्रविष्ट होने के लिए एक परीक्षा भी देनी पड़ती थी। यह परीक्षा बहुत कठिन होती थी, जिसमें बहुत से विद्यार्थीअसफल होते थे, फिर १०,००० विद्यार्थियों का होना आश्चर्य की बात है। इसमें पढ़े हुए विद्यार्थी बहुत प्रामाणिक विद्वान् माने जाते थे। हर्ष ने अपनी परिषद् के उत्सव में नालंद से १,००० विद्वान् बुलाए थे। मुसलमानों के समय में इस महत्वपूर्ण और उपयोगी विश्वविद्यालय का नाश हुआ।

तक्षशिला विश्वविद्यालय—भारत में तक्षशिला का विश्वविद्यालय सब से प्राचीन था। पातंजलि, चाणक्य और जीवक यहीं के विद्यार्थी तथा अध्यापक थे। यह विश्वविद्यालय भी बहुत बड़ा था। इसमें शिक्षा प्रारंभ की आयु सोलह वर्ष की थी। प्रायः राजाओं तथा संपन्न पुरुषों के पुत्र इसमें पढ़ते थे। 'महासुतसोमजातक' में एक आचार्य से पढ़ने वाले १०० से अधिक राजकुमारों का उल्लेख है। ग़रीब विद्यार्थी दिन में काम करते और रात को पढ़ते थे। कुछ विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय की ओर से भी काम दिया जाता था। कुछ विद्यार्थी पढ़ने के बाद फ़ीस चुकाने की प्रतिज्ञा करते थे। विद्यार्थियों के जीवन और आचार पर विशेष ध्यान दिया जाता था। भिन्न-भिन्न जातकों से पता लगता है कि यहां अनेक विषय पढ़ाए जाते थे। जिनमें से कुछ ये हैं—वेद, अठारह विद्याएँ (नहीं कहा जा सकता कि ये कौन सी थीं), व्याकरण, शिल्प, धनर्विद्या, हस्तिविद्या, मंत्रविद्या और चिकित्साशास्त्र। चिकित्साशास्त्र पर विशेष ध्यान दिया जाता था। यहां की शिक्षा समाप्त कर चुकने पर विद्यार्थी शिल्प, व्यवसाय आदि का क्रियात्मक अनुशीलन तथा देशदेशांतर के रीति-रिवाजों का अध्ययन करने के लिए भ्रमण किया करते थे। इसके कई उदाहरण भी जातकों में मिलते हैं। यह विश्वविद्यालय

[1] बील, 'बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑफ़ दी वेस्टर्न वर्ल्ड', जिल्द २, पृ० १६७-८

भी मुसलमानों के समय में नष्ट हुआ।

शिक्षा का क्रम—इत्सिंग ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में प्राचीन शिक्षाक्रम का संक्षिप्त विवरण दिया है। साधारणतः उत्कृष्ट विद्वान् होने के लिए सबसे पहले व्याकरण का विशेष अध्ययन करना पड़ता था। इत्सिंग ने व्याकरण के कई ग्रंथों का भी वर्णन किया है। पहले नवीन बालकों को छः वर्ष की आयु में वर्णबोध की सिद्धरचना (सिद्धिरस्तु) पढ़ाई जाती थी। इसमें छः मास लग जाते थे। इसके बाद पाणिनि की अष्टाध्यायी रटाई जाती थी, जिसे विद्यार्थी आठ मास में कंठस्थ कर लेते थे। तदनंतर धातुपाठ, जो अनुमान १,००० श्लोकों का है, पढ़ाकर दस वर्ष की अवस्था में नामों और धातुओं के रूप, उणादि सूत्र आदि का अध्ययन कराया जाता था जो तीन वर्ष में समाप्त हो जाता था। तत्पश्चात् जयादित्य और वामन की 'काशिका-वृत्ति' की अच्छी तरह शिक्षा दी जाती थी। इत्सिंग लिखता है कि भारत में अध्ययन करने के लिए आनेवालों को इस व्याकरण ग्रंथ का पहले-पहल अध्ययन आवश्यक है; ऐसा न करने पर सारा परिश्रम निष्फल होगा। ये सब ग्रंथ कंठस्थ होने चाहिएं। इस वृत्ति का अध्ययन कर चुकने के पश्चात् विद्यार्थी गद्य और पद्य की रचना प्रारंभ करते थे और हेतुविद्या तथा अभिधर्म-कोष में लग जाते थे। 'न्याय-द्वार-तारक शास्त्र' (नागार्जुन की बनाई हुई हेतु-विद्या की भूमिका) के अध्ययन से वे ठीक तौर पर अनुमान कर सकते थे और 'जातकमाला' के अध्ययन से उनकी ग्रहण शक्ति बढ़ती थी। इतना पढ़ चुकने पर विद्यार्थियों को विवाद करने की भी शिक्षा दी जाती थी, परंतु अभी व्याकरण का अध्ययन समाप्त नहीं होता। इसके बाद महाभाष्य पढ़ाया जाता था। प्रौढ़ विद्यार्थी इसे तीन वर्ष में सीख लेता था। इसके अनं-तर भर्तृहरि की 'महाभाष्य की टीका' और 'वाक्यप्रदीप' पढ़ाई जाकर उन्हें 'पेइन' (संभवतः संस्कृत की बेडावृत्ति) की शिक्षा दी जाती थी। मूल ग्रंथ भर्तृहरि ने ३,००० श्लोकों में लिखा, जिसकी टीका धर्मपाल ने १४,००० श्लोकों में की थी। इसके पढ़ लेने पर विद्यार्थी व्याकरण का पारंगत विद्वान् हो जाता था। हुएन्त्संग ने भी शिक्षाक्रम दिया है। व्याकरण का पंडित होने के बाद मंत्रविज्ञान, हेतुविद्या और ज्योतिष का अध्ययन कराया जाता है।

इसके बाद वैद्यक की शिक्षा दी जाती है। तत्पश्चात् न्याय पढ़ाया जाता है और सब से अंत में अध्यात्मविद्या। इत्सिंग लिखता है—"आचार्य जिनके पश्चात् धर्मकीर्ति ने हेतुविद्या को सुधारा और गुणप्रभ ने 'विनयपिटक' के अध्ययन को दुबारा लोकप्रिय बनाया"[1]। यह क्रम केवल उत्कट विद्वान् बनने के लिए था। साधारण विद्यार्थी इस क्रम से अध्ययन नहीं करते थे। वे अपना अभीष्ट विषय पढ़कर अपना सांसारिक कार्य करते थे। धर्मों की शिक्षा भी विशेष-रूप से दी जाती थी। यह आश्चर्य की बात है कि बौद्ध विश्वविद्यालयों में बौद्ध धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त हिंदूधर्म के साहित्य की भी पूर्ण शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षण-विधि भी बहुत उत्तम थी। हुएन्त्संग लिखता है कि प्रत्येक विषय के प्रकांड विद्वान् अध्यापक विद्यार्थियों के दिमाग़ में ज़बर्दस्ती कोई बात प्रवेश न कर उनके मानसिक विकास की तरफ़ अधिक ध्यान देते हैं। वे सुस्त विद्यार्थियों को अच्छी तरह पढ़ाते हैं और मंदबुद्धि विद्यार्थियों को तीक्ष्णबुद्धि कर देते हैं[2]।

विद्वानों में परस्पर शास्त्रार्थ की प्रथा बहुत प्रचलित थी। इससे साधारण जनता को भी बहुत लाभ पहुँचता था। वह बहुत से सिद्धांतों से परिचित हो जाती थी।

यह शिक्षाक्रम प्रायः हमारे संपूर्ण काल तक प्रचलित रहा। थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य होता रहा, परंतु इसके मूल सिद्धांतों में कोई परिवर्तन हुआ हो, यह मालूम नहीं होता। बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के शिक्षाक्रम का प्रभाव सारे देश पर निश्चित रूप से पड़ता था। यहाँ यह न भूलना चाहिए कि भिन्न-भिन्न दार्शनिक और धार्मिक संप्रदायों में यह शिक्षाक्रम उक्त रूप में नहीं था। उनकी पाठशाओं में साधारण ज्ञान के बाद उन्हीं के धार्मिक या दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन विशेष रूप से कराया जाता था, जैसा कि आजकल काशी आदि में पाया जाता है।

---

[1] टाकाकुसु, 'बुद्धिस्ट प्रेक्टिसेज़ इन इंडिया', ृ० १६५-८७; वाटर्स 'ऑन युवनच्वांग्स ट्रैवल्स', जिल्द १, पृ० १५४-५५

[2] वाटर्स 'ऑन युवनच्वांग्स ट्रैवल्स', जिल्द १, पृ० १६०

तृतीय व्याख्यान

शासन, शिल्प और कला

शासन-पद्धति—प्राचीन भारत में राजनीति और शासन-पद्धति का पूर्ण विकास हो चुका था। हमारे देश में भी राजा के अधिकार किसी प्रकार नियंत्रित थे। यहाँ भी कई प्रजातंत्र राज्य थे, जिनको गणराज्य भी कहते थे। कई राज्यों में राजा चुना भी जाता था। राजा प्रजा पर अत्याचार नहीं कर सकता था। प्रजा की आवाज़ सुनी जाती थी। शासन-प्रबंध बहुत उत्तम होता था।

हमारे काल में भी हम इस प्रकार का शासन देखते हैं। हर्ष के राज्य-काल के ताम्रलेखों, 'हर्षचरित' और हुएन्त्संग के वर्णन से तात्कालिक शासन-पद्धति का कुछ पता लगता है। राजा उस समय सर्वेसर्वा नहीं था। उसकी मंत्रिपरिषद् होती थी, जिसके हाथ में वस्तुतः राज्य की प्रायः सारी शक्ति रहती थी। राज्यवर्धन का प्रधान सचिव भंडि था। राज्यवर्धन के मारे जाने पर भंडि ने त्रिपरिषद् की बैठक बुलाकर देश की स्थिति समझाई और कहा कि 'राजा का भाई हर्ष कर्तव्यपरायण, प्रजाप्रिय तथा दयालु है। प्रजा उस पर विश्वास करेगी। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि उसे राजा बनाया जाय। प्रत्येक मंत्री इस पर अपनी सम्मति दें।' सब मंत्रियों ने इस पर सहमत होकर हर्ष से राजा बनने की प्रार्थना की। इससे जान पड़ता है कि मंत्रि-परिषद् का शासन में बहुत अधिकार था। भिन्न-भिन्न मंत्रियों का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें सांधिविग्रहिक, रणभांडागारिक, विनयस्थितिस्थापक (न्याय का प्रबंधकर्ता), अक्षपटलाधिपति (आयव्यय का हिसाब रखनेवाला) आदि मुख्य हैं। राजा का मुख्य कार्य शासन करना था। वह मंत्रि-परिषद्से सलाह लिया करता था। राजा का कर्तव्य प्रजा में शांति रखना और उसकी रक्षा

करना था। हुएन्त्संग ने लिखा है कि राजा का शासन दयायुक्त नियमों पर अवलंबित था। प्रजा पर किसी प्रकार की ज़बर्दस्ती नहीं की जाती थी। क्षत्रिय लोग बहुत पीढ़ियों से शासन कर रहे हैं, परंतु उनका उद्देश्य प्रजोपकार और दया है[1]।

राजा के कर्तव्य—एकतंत्र शासन होते हुए भी राजा परोपकारी और प्रजाहितैषी शासक ('बनेवलेंट मॉनर्क') था। उस समय ब्राह्मणों तथा धर्मगुरुओं का प्रभाव राजा पर बहुत होता था। वह राज्य की सब प्रकार की क्रियाओं और चेष्टाओं ('ऐक्टिविटीज़') का उत्तरदाता था। वह केवल प्रजा के आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों की ओर ही ध्यान नहीं देता था, किंतु प्रजा की धार्मिक और शिक्षा-संबंधी अवस्था पर भी लक्ष्य रखता था। बहुत से राजाओं ने धार्मिक उन्नति में विशेष भाग लिया, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। राजाओं ने शिक्षा की उन्नति के लिए भी विशेष प्रयत्न किया। उनके दरबार में बड़े-बड़े कवियों और विद्वानों को आश्रय दिया जाता था। जब कभी कोई कवि एक उत्कृष्ट ग्रंथ तैयार करता, तो राजा दूसरे नरेशों के दरबारों से भी उसे सुनने के लिए विद्वान् प्रतिनिधि बुलाता था। काश्मीर के राजा जयसिंह के समय में मंख-रचित 'श्रीकंठचरित' सुनने के लिए कन्नौज के गोविंदचंद्र के दरबार से सुहल और उत्तरी कोंकण के राजा अपरादित्य के दरबार से तेजकंठ आदि विद्वान् भेजे गए थे। प्रायः प्रत्येक दरबार में कुछ कवि तथा विद्वान् रहते थे, जिनका वहाँ पूर्ण सम्मान होता था। राजा लोग उन्हें नए-नए ग्रंथ लिखने के लिए भी उत्साहित करते थे।

ग्राम-संस्था—शासन की सुविधा के लिए देश भिन्न-भिन्न भागों में बँटा हुआ था। मुख्य विभाग भुक्ति (प्रांत), विषय (ज़िला) और ग्राम-थे। सबसे मुख्य संस्था ग्राम-संस्था थी। बहुत प्राचीन काल से भारतवर्ष में ग्राम-संस्थाओं का प्रचार था। ग्राम के लिए वहाँ की पंचायत ही सब कुछ कार्य करती थी। केंद्रीय सरकार का उसी से संबंध रहता था। ये ग्राम-

---

[1] वाटर्स, 'आन युवनच्वांग्स ट्रैवल्स' जिल्द १, पृ० १६८

संस्थाएँ एक छोटा-सा प्रजातंत्र थीं। इनमें प्रजा का अधिकार था। मुख्य सरकार के अधीन होते हुए भी ये एक प्रकार से स्वतंत्र थीं।

प्राचीन तामिल इतिहास से उस समय की शासन-पद्धति का विस्तृत परिचय मिलता है, परंतु हम स्थानाभाव से संक्षिप्त वर्णन ही देंगे। शासन-कार्य में राजा को सहायता देने के लिए पाँच समितियाँ होती थीं। इनके अतिरिक्त ज़िलों में तीन सभाएँ होती थीं। ब्राह्मण सभा में सब ब्राह्मण सम्मिलित होते थे। व्यापारियों की सभा व्यापारादि का प्रबंध करती थी। चोल राजराज (प्रथम) के शिलालेख से १५० गाँवों में ग्राम-सभाओं के होने का पता लगता है। इन सभाओं के अधिवेशन के लिए बड़े-बड़े भवन होते थे, जैसे तंजोर आदि में बने हुए हैं। साधारण गाँवों में बड़े-बड़े वटवृक्षों के नीचे सभाओं के अधिवेशन होते थे। ग्राम-सभाओं के दो रूप——विचार-सभा और शासन-सभा——रहते थे। संपूर्ण सभा के सभ्य कई समितियों में विभक्त कर दिए जाते थे। कृषि और उद्यान, सिंचाई, व्यापार, मंदिर, दान आदि के लिए भिन्न-भिन्न समितियाँ थीं। एक समय एक तालाब में पानी अधिक आने के कारण ग्राम को हानि पहुँचने की संभावना होने पर ग्राम-सभा ने तालाब-समिति को उसका सुधार करने के लिए बिना सूद रुपया दिया और कहा कि इसका सूद मंदिर-समिति को दिया जाय। यदि कोई किसान कुछ वर्ष तक कर न देता था, तो उससे भूमि छीन ली जाती थी। ऐसी ज़मीन फिर नीलाम कर दी जाती थी। भूमि बेचने या ख़रीदने पर ग्राम-सभा उसका पूरा विवरण तथा दस्तावेज़ अपने पास रखती थी। सारा हिसाब-किताब ताड़पत्रादि पर लिखा जाता था। सिंचाई की तरफ़ विशेष ध्यान दिया जाता था। जल का कोई भी स्रोत व्यर्थ नहीं जाने पाता था। नहरों, तालाबों और कुओं की मरम्मत समय-समय पर होती थी। आयव्यय के रजिस्टरों का निरीक्षण करने के लिए राज्य की ओर से अधिकारी नियुक्त किए जाते थे [1]।

---

[1] **विनयकुमार सरकार, 'दी पोलिटिकल इंस्टिटयूशंस एंड थ्यूरीज़ ऑफ़ दी हिंदूज़'; पृ ५३-५६**

चोल राजा परांतक के समय के शिलालेख से ग्राम-संस्थाओं की निर्माण-पद्धति पर बहुत प्रकाश पड़ता है। उसमें ग्राम-सभा के सभ्यों की योग्यता-अयोग्यता संबंधी नियम, सभाओं के अधिवेशन के नियम, सभ्यों के सार्व-जनिक चुनाव के नियम, उपसमितियों का निर्माण, आयव्यय के परीक्षकों की नियुक्ति आदि पर विचार किया गया है। चुनाव सार्वजनिक होता था। इसकी विधि यह होती थी कि लोग ठीकरियों पर उम्मीदवार का नाम लिख कर घड़े में डाल देते थे, सबके सामने वह घड़ा खोलकर उम्मीदवारों के मत गिने जाते थे और अधिक मत से कोई उम्मीदवार चुना जाता था [1]।

इन संस्थाओं का भारत की जनता पर जो सबसे अधिक व्यापक प्रभाव पड़ा वह यह है कि वह ऊपर के राजकीय कार्यों से उदासीन रहने लगी। राज्य में चाहे कितने बड़े-बड़े परिवर्तन हो जायँ, परंतु पंचायतों के वैसे ही रहने से साधारण जनता में कोई परिवर्तन नहीं दीखता था। जन-साधारण को परतंत्रता का कटु अनुभव कभी नहीं होता था। इतने विशाल देश के भिन्न-भिन्न राज्यों के लिए यह कठिन भी है कि वे गाँवों तक की सब बातों की तरफ़ ध्यान रख सकें। भारतवर्ष में इतने परिवर्तन हुए, परंतु किसी ने पंचायतों को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया।

शहरों में म्यूनिसिपैलिटियाँ या नगर-सभाएँ भी होती थीं, जो नगर का पूर्ण प्रबंध करती थीं।

दंड—शासन और न्याय के नियम पर्याप्त कठोर थे। अंगच्छेद, देशनिर्वासन, जुर्माना और कारागार आदि दंड प्रचलित थे[2]। हर्ष के जन्म पर क़ैदियों के छोड़े जाने का उल्लेख बाण ने किया है। याज्ञवल्क्य ने कई कठोर एवं क्रूर दंडों के देने का वर्णन किया है। ब्राह्मणों को विशेष कठोर दंड नहीं दिया जाता था। न्याय-विभाग के लिए एक विशेष अधिकारी रहता था, जिसके नीचे भिन्न-भिन्न प्रांतों और स्थानों में अन्य अधिकारी

---

[1] 'आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया', ऐन्युअल रिपोर्ट १९०४-५, पृ० १४२-५

[2] वाटर्स, 'आन युवनच्वांग्स ट्रैवल्स,' जिल्द १, पृ० १७२

रहते थे। याज्ञवल्क्य ने न्याय के बहुत से नियमों का वर्णन किया है, जिससे पता लगता है कि उस समय की न्यायव्यवस्था कितनी उन्नत और पूर्ण थी। अभियोगों में लिखित और मौखिक साक्षियों की परीक्षा की जाती थी। आश्चर्य की बात यह है कि सब बातों में इतनी उन्नति होते हुए भी दिव्यसाक्षी ('आर्डियल्स') की क्रूर प्रथा विद्यमान अवश्य थी,[1] परंतु बहुत ही कम उपयोग में आती थी।

स्त्रियों की राजनीतिक स्थिति—क़ानून में स्त्रियों की भी राजनीतिक स्थिति स्वीकृत की जाती थी। उत्तराधिकार-संबंधी नियमों में स्त्री की संपत्ति का भी अच्छा विवेचन किया गया है। पुत्र के न होने पर लड़की ही पिता की संपत्ति की अधिकारिणी होती थी। अपने पितृ-गृह की ओर से मिलनेवाले धन पर स्त्री का पूर्ण स्वत्व रहता है। मनु ने भी इसका उल्लेख किया है[2]।

राज्य की ओर से व्यापार और व्यवसाय की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। कारीगरों की रक्षा के लिए विशेष नियम बने हुए थे। यदि कोई व्यापारी अनुचित उपायों द्वारा वस्तुओं का मूल्य आदि बढ़ा देता या बाट और नाप कम या अधिक रखता तो उसे दंड मिलता था।

शासन-प्रबंध—उस समय के शासन का कुछ परिचय तत्कालीन कर्मचारियों के नामों से मिलता है। राजा या सम्राट् के नीचे बहुत से छोटे-छोटे राजा होते थे, जिन्हें महाराजा, महासामंत आदि उपाधियाँ मिलती थीं। ये राजा सम्राट् के दरबार में उपस्थित होते थे, जैसा कि बाण के वर्णन से विदित होता है। कभी जागीरदार भी ऊँचे पदों पर पहुँच जाते थे। प्रांत के शासक को 'उपरिक महाराज' कहते थे। कई शिलालेखों में प्रांतीय शासकों के गोप्ता, भोगिक, भोगपति, राजस्थानीय आदि नाम भी

---

[1] **वाटर्स, 'आन युवनच्वांग्स ट्रैवल्स,' पृ० १७२, 'अलबेरूनीज़ इंडिया', जिल्द २, पृ० १५८-६०**

[2] **विनयकुमार सरकार, 'दी पोलिटिकल इंस्टिट्यूशंस एंड थ्यूरीज़ आफ़ दी हिंदूज़', पृ० २७-३०**

मिलते हैं। प्रांतीय शासक, विषय या ज़िले के शासक को नियुक्त करता था, जिसे विषयपति या आयुक्तक कहते थे। विषयपति अपने ज़िले के मुख्य स्थान में, जिसे अधिष्ठान कहते थे, अपना अधिकरण या दफ़्तर रखता था।

प्रांतीय शासकों के पास राजा की लिखित आज्ञाएँ जाती थीं। एक ताम्रपत्र से पता लगता है कि ये आज्ञाएँ तभी ठीक मानी जाती थीं, जबकि उन पर सरकारी मुहर हो, प्रांतीय शासक की स्वीकृति हो, राजा का हस्ताक्षर और तत्संबंधी सब क्रियाएँ ठीक हों[1]। राजा की तरफ़ से दी गई तमाम सनदों पर राजमुद्रा की छाप होती थी, यहाँ तक कि दानपत्रों के साथ जुड़ी हुई और ताँबे पर ढली हुई बड़ी-बड़ी राजमुद्राएँ मिलती हैं, जिनमें कहीं-कहीं राजा के पूर्वजों की पूरी नामावली तक रहती थी। ऐसी मुद्राओं में कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहार राजा भोजदेव तथा मौखरी शर्ववर्मा आदि की मुद्राएँ उल्लेखनीय हैं।

स्थानीय सरकारों के भिन्न-भिन्न कर्मचारियों के नाम भी शिलालेखों में मिलते हैं, जिनमें से हम कुछ यहाँ देते हैं, जैसे महत्तर (ग्राम-सभा के सभ्य), ग्रामिक (ग्राम का मुख्य शासक), शौल्किक (कर लेनेवाला कर्मचारी), गौल्मिक (क़िलों का अध्यक्ष), ध्रुवाधिकरण (भूमिकर लेनेवाला), भांडागाराधिकृत (कोषाध्यक्ष), तलवाटक (ग्राम का हिसाब रखनेवाला)। कुछ छोटे-छोटे कर्मचारियों के नामों का उल्लेख भी मिलता है। वर्तमान क्लर्क के नाम 'दिविर' और 'लेखक' थे। 'करणिक' आजकल के रजिस्ट्रार का काम करता था। इन कर्मचारियों के अतिरिक्त दूसरे भी बड़े-बड़े कर्मचारी रहते थे। दंडपाशिक, चौरोद्धरणिक आदि पुलिस के कर्मचारियों के नाम थे[2]।

---

[1] मुद्राशुद्धं क्रियाशुद्धं भुक्तिशुद्धं सचिह्नकम्।
राज्ञः स्वहस्तशुद्धं च शुद्धिमाप्नोति शासनम्॥

शिलारावंशी राजा रट्टराज का शक संवत् ९३० (वि० सं० १०६५) का दानपत्र। 'एपिग्राफ़िया इंडिका', जिल्द ३, पृ० ३०२

[2] चिंतामणि विनायक वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द १, पृ० १२८-४१; राधाकुमुद मुकर्जी, 'हर्ष', पृ० १०३-१२

आयव्यय—राज्य की आय कई विभागों से होती है। सबसे अधिक आय भूमिकर से थी। भूमिकर उपज का छठा हिस्सा होता था। किसानों पर भी एक-आध और कर लगता था। ये कर अनाज के रूप में लिए जाते थे। मंडपिका (चुंगी कर) भी कई पदार्थों पर लगता था। बंदरगाहों पर भी आनेवाले माल पर तथा दूसरे राज्य से अपनी सीमा में आनेवाले माल पर आयात-कर लगता था। द्यूत-भवनों पर भी बहुत कर लगता था। नमक तथा खानों पर भी कर लगाया जाता था[1], परंतु ये कर भारी नहीं थे जैसा कि हुएन्त्संग का कथन है। उसने राजकीय आय का चार भागों में व्यय किए जाने का वर्णन किया है। एक भाग सरकार तथा राष्ट्रीय कार्यों के लिए व्यय किया जाता था, दूसरा भाग सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिए खर्च होता था, तीसरा भाग शिक्षा-विभाग के लिए और चौथा भिन्न-भिन्न धार्मिक संप्रदायों को सहायता देने के लिए रहता था।[2]

खेती की उन्नति के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया जाता था। सरकार की ओर से भूमि को नापा जाता था। कई शिलालेखों में मानदंड, 'निवर्तन', 'पदावर्त' आदि नापों का उल्लेख मिलता है। राज्य की तरफ़ से लंबाई का 'मापक' निश्चित था। पारमेश्वरीय हस्त भी एक परिमाण होता था। ग्रामों की सीमाएं निश्चित की जाती थीं। ग्राम पर कर लगता था। ग्रामों के साथ गोचर-भूमि छोड़ी जाती थी। जागीर या इनाम में मिले हुए गाँवों पर कोई कर नहीं लगता था। राज्य की ओर से तोल के बाटों का भी निरीक्षण किया जाता था[3]।

सार्वजनिक कार्य—राज्य की ओर से सार्वजनिक हित के कार्यों की तरफ़ भी बहुत ध्यान रहता था। नगरों में धर्मशालाएं और कुएं बनाए जाते थे। ग़रीब रोगियों के लिए औषधालय भी राज्य की ओर से स्थापित

---

[1] राधाकुमुद मुकर्जी, 'हर्ष', पृ० ११२-१३

[2] वाटर्स आन युवनच्वांग्स ट्रैवल्स, जिल्द १, पृ० १७६-७७

[3] चिंतामणि विनायक वैद्य, 'हिस्ट्री ऑफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द १, पृ० १३३ जिल्द २, पृ० २४०

किए जाते थे। सड़कों पर भी यात्रियों के आराम के लिए वृक्ष, जलाशय आदि के प्रबंध किए जाते थे। राज्य की ओर से शिक्षणालयों को विशेष सहायता दी जाती थी।

सैनिक प्रबंध—इस शासन-प्रबंध के अतिरिक्त भारत की सैनिक व्यवस्था कम उन्नत नहीं थी। सैनिक-विभाग शासन-प्रबंध से बिलकुल पृथक् था। प्रांतीय शासकों का सेना पर कोई अधिकार नहीं था। उसके अधिकारी बिल्कुल स्वतंत्र रहते थे। प्रायः हर समय युद्ध आदि की संभावना के कारण सेनाएं काफ़ी बड़ी रहती थीं। हर्ष की सेना में ६०,००० हाथी और १,००,००० घोड़े थे। हुएन्त्संग ने हर्ष की सेना चार प्रकार की—हाथी, घोड़े, रथ और पदाति—बताई है[1]। घोड़े भिन्न-भिन्न देशों से मँगवाये जाते थे। बाण ने कांबोजज, वनायुज, सिंधुज, पारसीक आदि घोड़ों की जातियों के नाम दिए हैं। पीछे से शनैः-शनैः रथों का प्रचार कम होता गया।

इन चार प्रकार की सेनाओं के अतिरिक्त जल-सेना भी बहुत सुसंगठित और व्यवस्थित थी। जिन राज्यों की सीमा पर बड़े-बड़े दरिया होते थे वे नौ-सेना रखते थे। समुद्री तट के राज्यों को भी नौ-सेना रखने की आवश्यकता थी। हुएन्त्संग ने अपनी यात्रा के प्रसंग में जहाज़ों का वर्णन किया है। मलाया, जावा, बाली आदि द्वीपों में हिंदुओं के राज्य विद्यमान थे, इससे भी जल-सेनाओं के सुव्यवस्थित होने का निश्चय होता है। चोल राजा बहुत शक्तिशाली जल-सेना रखते थे। राजराज ने चेर-राज्य का जंगी बेड़ा नष्ट कर लंका को अपने राज्य में मिला लिया था। राजेंद्र चोल का जंगी बेड़ा निकोबार और अंडमान द्वीपों (आजकल का काला पानी) तक पहुँचा था। स्ट्रैबो ने भारतीय सेना में जल-सेना के होने का उल्लेख किया है। जल-सेना की विद्यमानता बहुत प्राचीन काल से थी। मैगस्थनीज़ ने चंद्रगुप्त की सेना का वर्णन करते हुए जल-सेना का वृत्तांत लिखा है। भिन्न-भिन्न सेनाओं के लिए भिन्न-भिन्न अफ़सर होते थे। संपूर्ण सेना के अधिकारीको

---

[1] **वाटर्स आन युवनच्वांग्स ट्रैवल्स, जिल्द १, पृ० १७०-७१**

'महासेनापति', 'महाबलाध्यक्ष' या 'महाबलाधिकृत' कहते थे। 'भटाश्व सेनापति', पैदल और घोड़ों की सेना के अध्यक्ष को कहते थे। घोड़ों की सेना के अध्यक्ष को 'वृहदश्ववार' कहते थे। युद्ध-विभाग के कोषाध्यक्ष को 'रणभांडागाराधिकरण' कहते थे। काश्मीर के इतिहास से एक 'महासाधनिक' का पता लगता है, जो युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री की व्यवस्था करता था [1]।

सेना के सिपाहियों को वेतन नक़द दिया जाता था, पर प्रबंध के अन्य कर्मचारियों को अनाज के रूप में दिया जाता था। स्थिर सेना ('स्टैंडिंग आर्मी') के अतिरिक्त कठिन अवसरों पर अस्थायी सेना की भी व्यवस्था की जाती थी। कई राज्यों में दूसरे राज्यों के लोग भी भरती किए जाते थे [2]।

राजनीतिक स्थिति तथा शासन-पद्धति मे परिवर्तन—उपर्युक्त शासन-व्यवस्था और प्रबंध हमारे सारे निर्दिष्ट काल में एक-सा ही नहीं रहा। इसमें बहुत परिवर्तन हुए। हम संक्षेप में उन परिवर्तनों पर कुछ विचार करते हैं।

पिछले समय में भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति बहुत अधिक अच्छी नहीं रही। छोटे-छोटे राज्य बनते जा रहे थे। हर्ष और पुलकेशी के बाद तो इन दोनों का राज्य कई भागों में विभक्त हो गया। सोलंकी, पाल, सेन, प्रतिहार, यादव, गुहिल, राठोड़ आदि कई वंश अपनी-अपनी उन्नति में लगे हुए थे। कहने का अभिप्राय यह है कि संपूर्ण भारत के बहुत से राज्यों में विभक्त होने से उनकी शक्तियाँ बिखर गईं। भारत में एक राष्ट्रीयता का भाव प्रबल रूप से नहीं था। इन राज्यों के पारस्परिक युद्धों से देश की शांति नष्ट होती रही। इसका स्वाभाविक परिणाम देश की शासन-पद्धति तथा अन्य राजकीय संस्थाओं पर पड़ा। सब राजा शनैः-शनैः अधिक स्वतंत्र और उच्छृंखल होते गए। देश के शासन की ओर उनका अधिक ध्यान न रहा। प्रजा की आवाज़ की सुनवाई कम होने लगी। राजाओं को सेना की विशेष

---

[1] **चिंतामणि विनायक वैद्य, 'हिस्ट्री ऑफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द १, पृ० १४२-५५**

[2] **राधाकुमुद मुकर्जी, 'हर्ष', पृ० ९७-९८**

आवश्यकता होने पर उन्होंने प्रजा पर अधिक कर लगाए। राजा स्वयं ही मंत्रियों की नियुक्ति करता था। कोई जनसभा या क्रमागत मंत्रि-परिषद् नहीं थी। इस समय तक राज्य के पुराने अधिकारी ही चले आते थे। ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के शिलालेखों में राजामात्य, पुरोहित,महाधर्माध्यक्ष, महासांधि-विग्रहिक, महासेनापति, महामुद्राधिकृत, (राजमुद्रा का रक्षक), महाक्षपट-लिक और महाभोगिक आदि अधिकारियोंके नाम मिलते हैं, जिनसे विदित होता है कि शासन-प्रबंध में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। इन अधिकारियों में 'महा' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि इनके अधीन भी बहुत से कर्मचारी रहते थे[१]। रानी और युवराज भी शासन में भाग लेते थे। कुछ राज्यों में छोटे-छोटे कर बढ़ा दिए गए। पिछले राजाओं के समय में कई कर लगने का उल्लेख मिलता है। भूमि और कृषि आदि की भी व्यवस्था पूर्ववत् थी। क्षेत्रपाल और प्रांतपाल आदि कई अधिकारियों के नाम मिलते हैं। आय-व्यय विभाग भी पहले की तरह ही था। न्यायालयों की भी व्यवस्था अच्छी थी, राजा की अनुपस्थिति में प्राड्-विवाक (न्यायाधीश) काम करता था। अलबेरूनी ने मुक़द्दमों के विषय में लिखा है—"अभियोग उपस्थित करते हुए वादी अपनी पुष्टि में प्रमाण देता था। यदि कोई लिखित प्रमाण न हो तो कम से कम चार गवाह चाहिएं। उन्हें जिरह की आज्ञा नहीं दी जाती थी। ब्राह्मणों और क्षत्रियों को हत्या के अपराध में प्राणदंड नहीं दिया जाता था। उनकी संपत्ति लूटकर उन्हें देशनिर्वासित कर दिया जाता था। चोरी के अपराध में ब्राह्मण को अंधा करके उसका बायां हाथ और दहिना पैर काट दिया जाता था। क्षत्रिय अंधा नहीं किया जाता था[२]। इससे जान पड़ता है कि उस समय तक भी क्रूर दंड देने की प्रथा विद्यमान थी।

सैनिक व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन हो रहा था। राजाओं के पास अपनी स्थिर सेना रखने का रिवाज कम हो रहा था, परंतु सरदारों और

---

[१] चिंतामणि विनायक वैद्य, 'हिस्ट्री ऑफ़ मिडिएवल इंडिया', जिल्द ३, पृ० ४५३-५४

[२] 'अलबेरूनीज इंडिया', जिल्द २, पृ० १५८-६३

कि उसके लिए कितने जल की आवश्यकता है। उसके अनुसार प्रत्येक ग्राम को यथोचित जल देने की व्यवस्था की गई। कल्हण ने लिखा है कि सूर्य ने नदियों को इस तरह नचाया, जैसे सँपेरा साँपों को नचाता है। उसकी इस व्यवस्था के परिणाम-स्वरूप खेती बहुत हुई और एक खारी (परिमाण विशेष) चावल का दाम २०० दीनारों से ३६ दीनार तक हो गया। तामिल प्रदेश में नदियों को मुहानों के पास रोककर पानी इकट्ठा करने की व्यवस्था की जाती थी। हमारे समय से पूर्व करिकाल चोल ने कावेरी नदी पर सौ मील का एक बाँध बनवाया था। राजेंद्र (१०१८-३५ ई०) ने अपनी नई राजधानी के पास बड़ा भारी जलाशय बनवाया। बड़े-बड़े तालाब भी हमारे समय से बहुत पूर्व बनाए जाते थे। चंद्रगुप्त मौर्य के समय गिरनार के नीचे एक विशाल सरोवर बनवाया गया था, जिसमें से अशोक ने नहरें निकलवाईं। इनकी समय-समय पर मरम्मत होती रही[1]। बहुत से राजा स्थान-स्थान पर अपने नाम से बड़े-बड़े विशाल तालाब बनवाते थे, जिनसे सिंचाई बहुत अच्छी तरह हो सकती थी। ऐसे तालाब बहुत से स्थानों पर अब भी मिलते हैं। परमार राजा भोज ने भोजपुर में एक बहुत बड़ा तालाब बनवाया था, जो संसार की कृत्रिम झीलों में सबसे बड़ा था। इसको मुसलमानों ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अजमेर में आनासागर, बीसला आदि तालाब भी पहले के राजाओं ने बनवाए थे। कुओं से भिन्न-भिन्न प्रकार से सिंचाई होती थी, जो आज भी प्रचलित है। इस प्रथा को भारतीय लंका में भी ले गए थे। पराक्रमबाहु (११५० ई०) ने लंका में १,४७० तालाब और ५३४ नहरें बनवाईं और बहुत से तालाब तथा नहरों की मरम्मत कराई। इसस मालूम होता है कि उस समय सिंचाई की तरफ़ कितना ध्यान दिया जाता था।[2]

व्यापारिक नगर—कृषि के बाद व्यापार की मुख्यता थी। भारत के बड़े-बड़े शहर व्यापार के केंद्र थे। भारतवर्ष में केवल ग्राम ही नहीं थे, विशाल

---

[1] विनयकुमार सरकार, 'दी पोलिटिकल इंस्टिटयूशंस एंड थ्यूरीज़ ऑफ़ दी हिंदूज़', पृ० १०३-४

[2] वही, पृ० १०३-४

नगर भी बहुत प्राचीन काल से विद्यमान थे। पांड्य राजाओं की राजधानी मदुरा बहुत विस्तृत नगर था, जो अपने शानदार और गगनभेदी प्रासादों के कारण प्रसिद्ध था। मलाबार के तट पर वंजि (वंचि) व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का नगर था। कोरोमंडल तट पर पकर (कावेरीप्पुम्पट्टिनम्) बहुत उत्तम बंदरगाह था। सोलंकियों की राजधानी वातापी (बीजापुर ज़िले में) अंतरराष्ट्रीय दृष्टि से महत्वशाली थी। बंगाल का बंदरगाह ताम्रलिप्ति (तमलक) भी व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्व का और विशाल नगर था, जहाँ से व्यापारी पूर्वीय चीन की तरफ़ जाते थे। कन्नौज तो विशाल एवं एक प्रसिद्ध नगर था। मालवा की उज्जयिनी नगरी भी कम विशाल नहीं थी। यह उत्तरी भारत और भड़ोंच के बंदरगाह के बीच में व्यापारिक दृष्टि से मध्यस्थ का काम करती थी। बंबई प्रांत के भड़ोंच (भृगुकच्छ) बंदरगाह से फ़ारस, मिश्र आदि में भारत से माल जाता था। पाटलिपुत्र तो मौर्य-काल से प्रसिद्ध था, जिसका विस्तृत वर्णन मेगास्थनीज़ ने किया है। उसके कथनानुसार इसके ५७० बुर्ज और ६४ दरवाज़े थे और उसका क्षेत्रफल २१½ मील था, जो अरेलियन के समय के रोम से दुगुने से भी कुछ अधिक था। इसी तरह और भी अनेक बड़े-बड़े शहर भारतीय व्यापार के केंद्र थे।[१]

व्यापार के जलमार्ग—व्यापार जल और स्थल मार्ग से होता था। बड़े-बड़े जहाज़ी बेड़े व्यापार के लिए बनाए गए थे। अरब, फ़िनीशिया, फ़ारस, मिश्र, ग्रीस, रोम, चंपा, जावा, सुमात्रा आदि के साथ भारत का व्यापार होता था। समुद्र-यात्रा का निषेध पीछे से हुआ। हर्ष ने हुएन्त्संग को समुद्र-मार्ग से चीन लौटने की सलाह दी थी। जावा की कथाओं से ५,००० भारतीयों का कई जहाज़ों द्वारा जावा में जाने का वर्णन मिलता है। इत्सिंग लौटता हुआ समुद्र-मार्ग से ही चीन को गया था। भारतीय पोत-कला में बहुत प्रवीण थे और इसे वे बहुत प्राचीन काल से जानते थे। प्रोफ़ेसर

---

[१] **विनयकुमार सरकार, 'दी पोलिटिकल इंस्टिट्यूशंस एंड थ्यूरीज़ ऑफ़ दी हिंदूज', पृ० ६०-६५**

मैक्सडंकर के कथनानुसार ई० पूर्व २००० में भी भारतीय इस कला से अभिज्ञ थे[1]।

व्यापार के स्थलमार्ग—स्थलमार्ग से भी व्यापार बहुत बढ़ा हुआ था, भारतवर्ष में व्यापार के लिए बड़ी-बड़ी सड़कें बनाई जाती थीं। इन सड़कों का महत्व युद्ध की दृष्टि से भी बहुत था। एक विशाल सड़क कोरोमंडल तट (पूर्वी) से कुमारी अंतरीप तक १,२०० मील लंबी थी, जिसे कुलोत्तुंग चोड़देव (ई० सं० १०७०-१११८) ने बनवाया था। इसका सैनिक दृष्टि से भी विशेष महत्व था। हमारे समय से बहुत पूर्व मौर्यकाल में भी पाटलिपुत्र से अफ़गानिस्तान तक १,१०० मील लंबी सड़क बन चुकी थी। साधारण सड़कें तो बहुत जगह बनी हुई थीं।[2] स्थलमार्ग से केवल स्वदेश में ही नहीं, विदेश में भी व्यापार होता था। राइज़ डेविड्ज़ ने लिखा है—"स्वदेश और विदेश में भारतीय व्यापार दोनों मार्गों से होता था। ५०० बैलगाड़ियों के कारवान का वर्णन मिलता है[3]"। स्थलमार्ग से चीन, बैबिलन, अरब, फ़ारस आदि के साथ भारत का व्यापार होता था। 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका'[4] में लिखा है कि यूरोप के साथ भारत का व्यापार निम्नलिखित मार्गों से होता था—

१—भारत से पलमायरा नामक शहर द्वारा रोम होता हुआ सीरिया की तरफ़।

२—हिमालय को पार कर आक्सस होते हुए कैस्पियन सागर और वहाँ से मध्य यूरोप।

भारतीय व्यापार—भारतवर्ष से अधिकतर रेशम, छींट, मलमल आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र और मणि, मोती, हीरे, मसाले, मोरपंख,

---

[1] हरविलास सारडा, 'हिंदू सुपीरियौरिटी', पृ० ३६४

[2] विनयकुमार सरकार, 'दी पोलिटिकल इंस्टिटयूशंस एंड थ्यूरीज़ ऑफ़ दी हिंदूज़,' पृ० १०२-३

[3] 'दी जरनल ऑफ़ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी', १९०१ ई०

[4] जिल्द ११, पृ० ४५९

हाथीदाँत आदि बहुत अधिक विदेशों में जाते थे। मिस्र की आधुनिक खोज में वहाँ की ममियों की कुछ पुरानी क़ब्रों से बारीक भारतीय मलमल भी मिली है। विदेशी व्यापार के कारण भारतवर्ष बहुत अधिक समृद्ध हो गया। प्लिनी ने लिखा है कि प्रतिवर्ष रोमन साम्राज्य से दस लाख पौंड (एक करोड़ रुपए) भारत में आते थे[1] और केवल रोम से चालीस लाख रुपए भारत में खिंचे चले जाते थे[2]।

मेले—देश के आंतरिक व्यापार में भिन्न-भिन्न तीर्थों का भी बहुत महत्व था। इनके मेलों में सब प्रकार के व्यापारी और ग्राहक आते थे और बड़ी भारी ख़रीद-फ़रोख़्त होती थी। आज भी हरिद्वार, काशी और पुष्कर आदि तीर्थों में होनेवाले मेले व्यापारिक दृष्टि से कम महत्व के नहीं हैं।

व्यवसाय—आजकल भारतवर्ष केवल कृषिप्रधान देश रह गया है, परंतु पहले यह बात न थी। भारतवर्ष में व्यवसाय और उद्योग-धंधे भी बहुत अच्छी अवस्था में थे। सबसे उत्तम व्यवसाय वस्त्रों का था। वस्त्र बहुत प्रकार के बनते थे। सामाजिक स्थिति में हम भिन्न-भिन्न वस्त्रों के उपयोग के विषय में लिख चुके हैं। भारत में महीन से महीन मलमल, छींट, शाल, दुशाले आदि कपड़े बनते थे। कपड़े रँगने की भी कला यहाँ बहुत उन्नत थी। वनस्पतियों से भी तरह-तरह के रंग निकाले जाते थे। यह आविष्कार भी पहले-पहल भारतीयों ने ही किया था। नील की खेती तो केवल रंग के लिए ही होती थी। वस्त्र-व्यवसाय तो अठारहवीं शताब्दी तक चलता रहा और ईस्ट इंडिया कंपनी के समय में नष्ट हुआ।

लोहा आदि धातुओं का व्यवसाय—लोहे और फ़ौलाद के व्यवसाय की भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई थी। कच्चे लोहे को गलाकर फ़ौलाद बनाना उन्हें प्राचीन काल से ज्ञात था। खेती आदि के सब प्रकार के लोहे के औज़ारों और युद्ध के हथियारों का बनना भारत में प्राचीन काल से चला आता था। लोहे का यह व्यवसाय इतना अधिक था कि भारत की

---

[1] प्लिनी, 'नेचरल हिस्ट्री'।

[2] 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका', जिल्द ११, पृ० ४६०

आवश्यकताओं से बचकर फ़िनिशिया में जाया करता था। डाक्टर राय ने लिखा है—'दमिश्क के तेज़ धारवाले औज़ारों की बड़ी प्रशंसा की जाती है, परंतु यह कला फ़ारस ने भारत से सीखी थी और वहाँ से अरबवालों ने इसका ज्ञान प्राप्त किया।'[1]

भारत के लोह-व्यवसाय के उत्कर्ष को दिखाने के लिए क़ुतुबमीनार के पासवाला लोहस्तभ ही पर्याप्त उदाहरण है। इतना विशाल स्तंभ आज भी यूरोप और अमेरिका का कोई बड़े से बड़ा कारख़ाना गढ़कर नहीं बना सकता। आज उसे बने हुए अनुमान १,५०० वर्ष हो गए। खुली हवा तथा वर्षा में रहने पर भी उस पर ज़ंग का नाम नहीं और उसकी कारीगरी भी प्रशंसनीय है। धार का जयस्तंभ भी दर्शनीय वस्तु है। यह मुसलमानों के समय में तोड़ा गया था। इसका एक खंड २२ फ़ुट और दूसरा १३ फ़ुट का है। इसका एक छोटा सा तीसरा खंड भी मांडू से मिला है। राजा लोग जयस्तंभ बनवाया करते थे। लोहे के व्यवसाय पर लिखते हुए मिसेज़ मैनिंग ने लिखा है कि आज भी ग्लासगो और शैफ़ील्ड में कच्छ से अधिक अच्छा फौलाद नहीं बनता।[2] लोहे के अतिरिक्त अन्य धातुओं का काम भी बहुत अच्छा था। सोने-चाँदी के तरह-तरह के पात्र और ज़ेवर बनते थे। पात्रों के लिए अधिकतर ताँबा प्रयुक्त होता था। भाँति-भाँति के रत्न काटकर सोने में मढ़े जाते थे। कुछ सुवर्णपत्रों पर ऐसी बौद्ध जातकें अंकित हुई हैं, जिनमें कई पत्र आदि पन्ने, माणिक वग़ैरह रत्नों के बने हुए हैं, और पच्चीकारी के ढंग से लगे हुए हैं।' रत्नों तथा क़ीमती स्फटिकों की बनी हुई मूर्तियाँ भी देखने में आईं और ऐसी एक स्फटिक-मूर्ति तो अनुमान एक फ़ुट ऊँची पाई गई है। पिपरावा के स्तूप में से स्फटिक का बना हुआ छोटे मुँहवाला वर्तुलाकार सुंदर बर्तन मिला है जिसके ढक्कन पर स्फटिक की सुंदर मछली बनी हुई है। सुवर्ण की बनी हुई कई मूर्तियाँ अबतक विद्यमान हैं। पीतल या सर्वधातु की तरह-तरह की विशाल मूर्तियाँ अब तक कई मंदिरों में

---

[1] **हरविलास सारडा, 'हिंदू सुपीरियौरिटी', पृ० ३५५**

[2] **'एंश्यंट एंड मीडिएवल इंडिया', जिल्द २, पृ० ३६५**

स्थापित हैं। इससे यह भी अनुमान होता है कि भारत में खानों से धातु निकालने तथा उन्हें साफ़ करने की विधि प्रचलित थी।

काँच आदि का व्यवसाय—धातुओं के अतिरिक्त काँच का भी काम बहुत उत्तम होता था। प्लिनी ने भारतीय काँच को सबसे उत्तम बताया है। खिड़कियों तथा दरवाज़ों में भी काँच लगते थे और दर्पण भी बनाए जाते थे। हाथीदाँत और शंख के भी चूड़ियाँ आदि उत्तम पदार्थ बनते थे, उन पर तरह-तरह की कारीगरी का काम होता था। इन कामों के औज़ार बहुत सूक्ष्म होते थे। स्टेवरिनस ने लिखा है कि भारतीय शिल्पी इतने छोटे और सूक्ष्म औजारों से काम करते हैं कि यूरोपियन उनकी सफ़ाई और चतुरता पर आश्चर्यान्वित हो जाते हैं[1]।

गणसंस्था—उद्योग-धंधे के काम बड़े-बड़े पूँजीपतियों द्वारा नहीं होते थे। उस समय गणसंस्था ('गिल्ड्स') का प्रचार था। एक पेशेवाले अपना सुव्यवस्थित समुदाय बनाते थे। गण के प्रत्येक सभ्य को उसके सब नियम मानने पड़ते थे। गण, पदार्थ की उत्पत्ति और विक्रय का प्रबंध करता था। गाँवों या ज़िलों की सभाओं में इनके भी प्रतिनिधि रहते थे, जो देश के व्यवसाय का ध्यान रखते थे। राज्य भी इनके संघ की सत्ता मानता था। केवल व्यवसायी ही गण या श्रेणी नहीं बनाते थे, किंतु कृषकों और व्यापारियों के भी गण बने हुए थे। गौतम, मनु और वृहस्पति (६५० ई०) की स्मृतियों में कृषकों के संघों का उल्लेख है। गड़ेरियों के संघों का परिचय शिलालेखों से मिलता है। राजेंद्र चोल (११वीं शताब्दी) के समय दक्षिण भारत के एक गाँव के गड़ेरियों के गण को ९० भेड़ें इस प्रयोजन से दी गई थीं कि वह एक मंदिर के दीपक के लिए रोज़ घी दिया करे। एक शिलालेख से पाया जाता है कि विक्रम चोल के समय ५०० व्यापारियों का एक गण था। यह गण-पद्धति बहुत पहले से प्रचलित थी। बौद्ध-साहित्य में बहुत बड़े गणों का वर्णन है। गुप्तकाल में व्यवसायियों के बहुत से गण विद्यमान थे। ४६५ ई० में तेलियों के एक गण को मंदिर का दिया जलाने

---

[1] स्टैवरिनस की यात्रा, पृ० ४१२

का काम सौंपा गया था। इसी तरह कौलिक, गांधिक, धान्यक आदि लोगों के भी गण विद्यमान थे। ये गण बैंक का भी काम करते थे। प्रायः भारतवर्ष का संपूर्ण व्यापार और व्यवसाय इन्हीं गणों के द्वारा होता था [1]।

सिक्के—यहाँ कुछ शब्द सिक्कों के विषय में भी कह देना अनुचित न होगा। पहले भारत में द्रव्य-विनिमय ('बार्टर') द्वारा ही व्यापार होता था। दुकानदार भी द्रव्य-विनिमय करके ख़रीद-फ़रोख़्त करते थे। राज्य की ओर से बहुत से कर्मचारियों को वेतन भी अनाज-रूप में मिलता था। सरकार भी अनाज के रूप में भूमिकर लेती थी। इस व्यवस्था के कारण भारत में सिक्के थोड़ी मात्रा में बनते थे। सिक्कों की अधिक आवश्यकता भी न थी। प्रत्येक राजा अपने-अपने नाम के सिक्के बनवाता था। सिक्के बहुधा सोने, चाँदी और ताँबे के बनते थे।

भारत में बहुत प्राचीन काल से सिक्के बनते थे, परंतु उन पर कोई लेख या राजा का नाम नहीं लिखा जाता था, उनका केवल तोल ही निश्चित रहता था। उन पर मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चंद्र, धनुष, बाण, स्तूप, बोधि-द्रुम, स्वस्तिक, वज्र, नदी, पर्वत, आदि के चित्र तथा अन्य प्रकार के अनेक चिह्न अंकित होते थे। ऐसे सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे के होते थे। यह निश्चित नहीं कि ये सिक्के राज्य की ओर से बनते थे अथवा व्यापारी या गण बनाते थे।

सबसे प्राचीन लेखवाले सिक्के ईसवी सन् पूर्व की तीसरी शताब्दी के मिलते हैं, जो मालव-जाति के हैं। इनके पीछे ग्रीक, शक, कुशन और क्षत्रपों के सिक्के मिलते हैं। ये सिक्के अधिक उत्तम और लेखवाले हैं। इनके सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे के होते थे। फिर गुप्तकाल में राजाओं ने सिक्कों की तरफ़ विशेष ध्यान दिया। यही कारण है कि उनके बहुत से सिक्के उपलब्ध होते हैं। सोने के सिक्के गोल और लेखवाले मिलते हैं और उनमें से कई एक पर कविताबद्ध लेख भी विद्यमान हैं। चाँदी के सिक्कों में गुप्तों ने भी असावधानी कर क्षत्रपों की नक़ल की। एक तरफ़ क्षत्रपों जैसा

---

[1] **'दी पोलिटिकल इंस्टिटयूशंस एंड थ्यूरीज ऑफ़ दी हिंदूज'**, पृ० ४०-५०

सिर और दूसरी तरफ़ उनका लेख रहता था। गुप्तों के पीछे छठी शताब्दी में हूणों ने ईरान का खज़ाना लूटा और वे वहाँ के ससानियन राजाओं के चाँदी के सिक्के हिंदुस्तान में ले आए। वे ही सिक्के राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, मालवा आदि प्रदेशों में चलने लग गए और पीछे से उन्हीं की भद्दी नकलें यहाँ भी बनने लग गईं, जिनकी कारीगरी और आकार में न्यूनता आते-आते अंत में उन पर के राजा के चेहरे की आकृति ऐसी बन गई कि लोग उसको गधे का खुर मानने लग गए, जिससे वे सिक्के गधिया नाम से प्रसिद्ध हुए। सातवीं शताब्दी के आसपास से हमारे राजाओं का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ, जिससे राजा हर्ष, गुहिलवंशी, प्रतिहारवंशी, तँवर-वंशी, गाहड़वालों, नागवंशी (नरवर के), राष्ट्रकूटों (दक्षिण के), सोलंकियों, यादवों, यौधेय, चौहान (अजमेर और साँभर के), उदभांडपुर (ओहिंद) आदि के हिंदू राजाओं के नामवाले सोने, चाँदी या ताँबे के कितने एक सिक्के मिले हैं, परंतु प्रत्येक राजा के नहीं। इससे सिक्कों के विषय में राजाओं की असावधानी और उपेक्षा प्रतीत होती है। इसी से सोने आदि में मिलावट करनेवालों को तो दंड देने का उल्लेख स्मृतियों में मिलता है, परंतु राजा की आज्ञा के बिना सिक्का बनानेवालों को दंड देने का उल्लेख नहीं मिलता। कभी किसी राजा की प्रिय रानी भी अपने नाम का सिक्का प्रचलित कर देती थी, जैसा अजमेर के चौहान राजा अजयदेव की रानी सोमलदेवी (सोमलेखा) के सिक्कों से पाया जाता है। प्रारंभ में मुसलमानों ने अजमेर का राज्य छीनकर वहाँ के प्रचलित हिंदू सिक्कों की नक़ल की, परंतु पीछे से उन्होंने अपने स्वतंत्र सिक्के बनाना शुरू किया।

भारत की आर्थिक स्थिति—भारतवर्ष कृषि, व्यापार, व्यवसाय और अमूल्य खानों के कारण बहुत समृद्ध था। उस समय खाने-पीने की चिंता अधिक नहीं थी। नागरिक जीवन से भी, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं, मालूम होता है कि प्राचीन भारतीय संपन्न और समृद्ध थे। व्यापार में निर्यात के बहुत अधिक होने के कारण भारत की संपत्ति दिन-दिन बढ़ती जाती थी। भारतवर्ष में हीरे, नीलम, मोती और पन्नों की भी कमी नहीं थी। प्रसिद्ध कोहनूर हीरा भी भारत में उस समय विद्यमान था। प्लिनी ने

भारतवर्ष को हीरे, मोती आदि क़ीमती पत्थरों की जननी और मणियों का उत्पादक कहा है। वस्तुतः भारतवर्ष हीरे, लाल, मोती, मूंगे और भाँति-भाँति के अन्य रत्नों के लिए प्रसिद्ध था। सोना भी यहाँ बहुत मात्रा में था। लोहा, ताँबा और सीसा भी बहुतायत से निकलता था। अधिकांश चाँदी बाहर से आती थी, इसलिए महँगी रहती थी। प्रारंभ में सोने का मूल्य चाँदी से अठगुना था, जो हमारे निर्दिष्ट काल के अंत में बढ़ता हुआ सोलह-गुना तक पहुँच गया।

यह समृद्धि हमारे समय के अंतिम काल तक विद्यमान थी। सोमनाथ के मंदिर में सोने और चाँदी की अनेक रत्नजटित मूर्तियाँ थीं। पास ही २०० मन सोने का साँकल था, जिसके साथ घंटे बँधे होते थे। महमूद ग़ज़नवी उसी मंदिर से एक करोड़ रुपयों से अधिक मूल्य की संपत्ति लूट में ले गया था। इसी तरह वह मथुरा और कन्नौज प्रभृति स्थानों से भी अनंत धन-राशि ले गया। यदि भारत की तत्कालीन संपत्ति की जानकारी करनी हो तो उत्तर और दक्षिण भारत के उस समय के बने हुए सैकड़ों भव्य मंदिरों को देखना चाहिए, जिनके कलश, मूर्तियाँ या स्तंभ सोने चाँदी अथवा रत्नों से जटित थे।

शिल्प

स्तूप—तक्षणकला-संबंधी शिल्प के मुख्य चार विभाग किए जा सकते हैं—गुफा, मंदिर, स्तंभ और प्रतिमा। हमारे यहाँ तक्षणकला का विकास विशेषतः धार्मिक भावों से हुआ है। बौद्धस्तूप, चैत्य और विहार आदि शिल्प के सबसे प्राचीन सुरक्षित कार्य हैं। महात्मा बुद्ध का निर्वाण होने पर उनका शरीर जलाया गया और उनकी हड्डियों आदि पर भिन्न-भिन्न जाति के लोगों ने स्तूप बनवाना शुरू किया, जो बौद्धों में बहुत ही पूजनीय समझे जाने लगे; पीछे से बड़े सुंदर कामवाले कई स्तूप बने। स्तूप एक मंदिर की तरह पूजनीय समझा जाता था और उसके चारों तरफ़ सुंदर कारीगरीवाले विशाल द्वार, तोरण आदि बनाए जाते थे और ऐसे ही कामवाली वेष्टनी ('रेलिंग्स') से वे चारों तरफ़ से अलंकृत किए जाते थे। ऐसे स्तूपों में साँची और भरहुत के स्तूप मुख्य हैं, जो ई० सन् के पूर्व की तीसरी और दूसरी शताब्दी के

आसपास के हैं। अबतक इन पर बौद्धधर्म के पूजनीय चिह्न—धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, हाथी आदि—तथा बुद्ध के पूर्वजन्म की भिन्न-भिन्न कथाएं बड़ी सुंदरता के साथ पत्थरों पर उभरी हुई अंकित हैं।

गुफाएं—हमारे यहां पहाड़ों को काट-काटकर बनाई हुई दो प्रकार की भव्य गुफाएं—चैत्य और विहार—हैं। चैत्य के भीतर एक स्तूप होता है और जन-समाज के एकत्र होने के लिए विशाल भवन ('असेम्बली हाल') होता है। ऐसी गुफाओं में कार्ली आदि कई गुफाओं का उल्लेख किया जा सकता है। विहार अर्थात् मठ में साधु-भिक्षुकों के रहने के लिए अलग-अलग कमरे बने हुए होते हैं। ऐसी गुफाएं विशेषतः दक्षिण में मिलती हैं, जिनमें से अजंटा, इलोरा, कार्ली, भाजा, बेड़सा आदि मुख्य हैं। दक्षिण के अतिरिक्त काठियावाड़ में जूनागढ़ के पास, राजपूताने में झालावाड़ राज्य में, कोलवी, और मध्य भारत में धमणार, बाघ आदि में ऐसे स्थान हैं। कार्ली आदि कितनी एक भव्य गुफाओं की कटाई की सुंदरता देखकर दर्शक मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। ऐसी गुफाओं में से अधिकतर बौद्ध हैं, और थोड़ी-सी जैन या वैदिक मत से संबंध रखती हैं। इनमें से अधिकांश गुफाएं हमारे समय से पूर्व की हैं, परंतु अजंटा की कुछ गुफाएं, तथा कोलवी, धमणार एवं बाघ आदि की हमारे समय के प्रारंभकाल की हैं। इनमें से कई एक गुफाएं भारतीय तक्षण-कला के सर्वोत्तम नमूने हैं और उनकी प्रशंसा अनेक विद्वानों ने मुक्तकंठ से की है।

मंदिर—ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के आसपास से बारहवीं शताब्दी तक सैकड़ों जैनों और वेदधर्मावलंबियों अर्थात् ब्राह्मणों के मंदिर अबतक किसी न किसी दशा में विद्यमान हैं। देश-भेद के अनुसार इन मंदिरों की शैली में भी अंतर है। कृष्णा नदी के उत्तर से लेकर सारे उत्तरीय भारत के मंदिर आर्य-शैली के है और उक्त नदी से दक्षिण के द्रविड़ शैली के। जैनों और ब्राह्मणों के मंदिरों की रचना में बहुत कुछ साम्य है। अंतर इतना ही है कि जैन-मंदिरों के स्तंभों, छतों आदि में बहुधा जैनों से संबंध रखने वाली मूर्तियां तथा कथाएं खुदी हुई पाई जाती हैं और ब्राह्मणों के मंदिरों में उनके धर्म-संबंधी। बहुधा जैनों के मुख्य मंदिर के चारों ओर छोटी-छोटी

देव-कुलिकाएं बनी रहती हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों की प्रतिमाएं स्थापित की जाती हैं। ब्राह्मणों के मुख्य मंदिर के साथ कहीं-कहीं कोनों में चार और छोटे मंदिर होते हैं। ऐसे मंदिरों को पंचायतन मंदिर कहते हैं। ब्राह्मणों के मंदिरों में विशेषकर गर्भगृह (निज मंदिर) रहता है, जहाँ मूर्ति स्थापित होती है और उसके आगे मंडप। जैन-मंदिरों में कहीं-कहीं दो मंडप और एक विस्तृत वेदी भी होती है। दोनों शैली के मंदिरों में गर्भगृह के ऊपर शिखर और उसके सर्वोच्च भाग पर आमलक नाम का बड़ा चक्र होता है। आमलक के ऊपर कलश रहता है, और वही ध्वजदंड भी होता है।

द्रविड़ शैली के कुछ मंदिरों में, जहां मुख्य मूर्ति स्थापित होती है उसके ऊपर, चतुरस्र आकृति का विमान नामक कई मंज़िलों का ऊँचा मंडप रहता है। वह ज्यों-ज्यों ऊँचा होता जाता है, त्यों-त्यों उसका फैलाव कम होता जाता है और ऊपर जाकर छोटा-सा रह जाता है। वस्तुतः इस विमान का ऊपरी विभाग चतुरस्र शंकु जैसी आकृति का होता है। इन विमानों को आर्य-शैली के मंदिरों के शिखर के स्थानापन्न समझना चाहिए। गर्भगृह के आगे मंडप या अनेक स्तंभोंवाले विस्तृत स्थान होते हैं और मंदिर के प्राकार के एक या अधिक द्वारों पर एक बहुत ऊँचा अनेक देवी देवताओं की मूर्तिवाला गोपुर रहता है जिसे 'कोयल' कहते हैं। उत्तरी भारत में पुष्कर, वृंदावन आदि तीर्थस्थानों में रंगजी आदि के नए बने हुए मंदिर ठीक द्रविड़ शैली के हैं। दक्षिण के पूर्वी और पश्चिमी सोलंकी राजाओं के समय के बने हुए देवमंदिर बहुधा द्रविड़ शैली के हैं, परंतु उनमें उक्त शैली से थोड़ा-सा अंतर होने के कारण आधुनिक विद्वान् उनका परिचय चालुक्य शैली के नाम से देते हैं। पश्चिमी भारत के कारीगर भी उनके बनाने में लगाए गए थे जिससे उनकी द्रविड़ शैली में कुछ उत्तरी शैली का मिश्रण हो गया है। इस शैली के मंदिर आदि बंबई हाते के दक्षिणी विभाग अर्थात् कनड़ी प्रदेशों में धारवाड़ से लेकर निज़ाम और मैसूर राज्य तक, जहां चालुक्यों का राज्य रहा, जगह-जगह मिलते हैं। नैपाल के शैव और वैष्णव-मंदिर उत्तर भारत की शैली के हैं और कुछ मंदिर चीनी शैली के छज्जेदार और कई मंज़िलवाले भी हैं।

हमारे समय के भिन्न-भिन्न शैलियों के सुंदर मंदिर सैकड़ों स्थानों पर विद्यमान हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है।

आर्य-शैली के ब्राह्मणों के मंदिर भुवनेश्वर (उड़ीसा में), नागदा और बाड़ोली (दोनों उदयपुर राज्य में), चित्तोड़गढ़, ग्वालियर, चंद्रावती, (झालावाड़ राज्य में), ओसियां (जोधपुर राज्य में), चंद्रावती, वर्माण (दोनों सिरोही राज्य में) खजुराहो (मध्यभारत में), कनारक, लिंगराज (उड़ीसा में) आदि अनेक स्थानों में हैं। इसी तरह आबू, खजुराहो, नागदा, मुक्तगिरि और पालीताना आदि स्थानों के जैन-मंदिर भारतीय शिल्पकला के उत्तम नमूने हैं। द्रविड़ शैली के मामल्लपुर (महावलि-पुरम्—चिंगलीपट्ट ज़िले में), कांजीवरम् (कांची), इलोरा, तंजोर, बेलूर (मैसूर के हसन ज़िले में), बादामी (बीजापुर जिले में), श्रीरंगम् (त्रिचनापल्ली में) और श्रवणवेलगोला (हसन ज़िले में) आदि स्थानों में हैं।

ये मंदिर शिल्प की दृष्टि से कितने उत्तम हैं, यह कुछ विद्वानों के निम्न-लिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा।

बाड़ोली के मंदिर की तक्षण-कला की प्रशंसा करते हुए कर्नल टॉड ने लिखा है—'उसकी विचित्र और भव्य रचना का यथावत् वर्णन करना लेखनी की शक्ति से बाहर है। यहां मानो हुनर का ख़जाना ख़ाली कर दिया गया है। उसके स्तंभ, छत और शिखर का एक-एक पत्थर छोटे से मंदिर का दृश्य बतलाता है। प्रत्येक स्तंभ पर खुदाई का काम इतना सुंदर और बारीकी के साथ किया गया है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता[1]। भारतीय शिल्प के प्रसिद्ध विद्वान् मि० फ़र्गुसन लिखते हैं—'आबू के मंदिरों में, जो संगमरमर के बने हुए हैं, अत्यंत परिश्रम सहन करने वाली हिंदुओं की टाँकी से फ़ीते जैसी बारीकी के साथ ऐसी मनोहर आकृतियां बनाई गई हैं कि उसकी नक़ल काग़ज़ पर बनाने में कितने ही समय तथा परिश्रम से भी मैं सफल नहीं हो सका।[2]

---

[1] **टॉड, 'राजस्थान', जिल्द ३, पृ० १७५२-५३ (आक्सफ़र्ड संस्करण)**

[2] **'पिक्चरस इलस्ट्रेशंस ऑफ़ आर्किटेक्चर इन हिंदुस्तान।'**

हैलेबिड के मंदिर के विषय में विंसेंट स्मिथ ने लिखा है—'यह मंदिर धैर्यशील मानव-जाति के श्रम का अत्यंत आश्चर्यजनक नमूना है। इसकी सुंदर कारीगरी के काम को देखते-देखते आँखें तृप्त नहीं होतीं'[1]। इसी मंदिर के विषय में प्रोफ़ेसर ए० ए० मेक्डानल का कथन है कि 'संसार भर में शायद दूसरा कोई ऐसा मंदिर न होगा, जिसके बाहरी भाग में ऐसा अद्भुत खुदाई का काम किया गया हो। नीचे की चौतरफ़ हाथियोंवाली पंक्ति (गजघर) में दो हज़ार हाथी बनाए गए हैं, जिनमें से आकृति में कोई भी दो परस्पर नहीं मिलते'[2]।

मथुरा के प्राचीन मंदिरों के, जो अब नष्ट हो चुके हैं, विषय में महमूद गज़नवी ने गज़नी के हाकिम को लिखा था कि यहां (मथुरा में) असंख्य मंदिरों के अतिरिक्त १००० प्रासाद मुसलमानों के ईमान के सदृश दृढ़ हैं। उनमें से कई तो संगमरमर से बने हुए हैं, जिनके बनाने में करोड़ों दीनार खर्च हुए होंगे। ऐसी इमारतें यदि २०० वर्ष लगें तो भी नहीं बन सकतीं[3]।

स्तंभ—दिल्ली, प्रयाग, सारनाथ आदि के अशोक-स्तंभ भारतीय शिल्प के उपलब्ध स्तंभों में सब से प्राचीन हैं। वे बृहत्काय स्तंभ एक ही पत्थर से काटे गए हैं और उन पर पालिश इतना सुंदर हुआ है कि वह आज तक अधिकांश में विद्यमान है और आजकल ऐसे पाषाणों पर ऐसा सुंदर पालिश होना असंभव-सा है। इन स्तंभों के ऊपर सुंदर कारीगरीवाले सिरे लगे हुए थे, जिनके अग्रभाग पर कहीं एक शेर और कहीं चार शेर आदि बने हुए थे। ऐसे दो-तीन सिरे अब तक विद्यमान हैं, जो उस समय की उन्नत कला के साक्षी रूप हैं। अशोक के पीछे बेसनगर का प्रसिद्ध स्तंभ, महरोली (दिल्ली से १३ मील) वाला प्रसिद्ध लोहस्तंभ और दूसरे कई एक स्तंभ हैं, जो हमारे निर्दिष्ट काल के पूर्व के हैं। हमारे समय के स्तंभों में राजा यशोधर्मन के मंदसोर के निकटवर्ती सौंदनी गाँववाले दो विशाल स्तंभ हैं,

---

[1] **'हिस्ट्री ऑफ़ फाइन आर्ट इन इंडिया', पृ० ४२**

[2] **'इंडियाज पास्ट', पृ० ८३**

[3] **ब्रिग्स, 'फ़िरिश्ता', जिल्द १, पृ० ५८-५९**

जो उक्त राजा की विजय के स्मारक हैं। ये विशाल स्तंभ एक ही पत्थर से नहीं काटे गए, किंतु अलग-अलग विभागों से बने हैं, जो एक दूसरे पर जमा दिए गए हैं। इस समय वे खड़े नहीं, किंतु धराशायी हो रहे हैं। यशोधर्म के स्तंभों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न स्थानों पर कई मंदिरों के आगे खड़े किए हुए अथवा मंदिरादि में लगे हुए भिन्न-भिन्न शैली के हज़ारों स्तंभ या तोरण विद्यमान हैं, जिनकी कारीगरी का अनुमान उन्हें देखने से ही हो सकता है।

मूर्तियां—बड़ी-बड़ी मूर्तियों के होने का सब से प्राचीन प्रमाण कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में मिलता है, परंतु उपलब्ध मूर्तियों में सब से प्राचीन 'यूसफ़ज़ई' अर्थात् गांधार से मिली हुई बुद्ध की भिन्न-भिन्न क़द की मूर्तियां तथा मथुरा के कंकाली टीले वाली जैन-मूर्तियां एवं राजा कनिष्क आदि की मूर्तियां हैं। ये सब ई० सन् की पहली शताब्दी के आसपास की हैं। हिंदुओं के भागवत-संप्रदाय के विष्णु-मंदिर ई० सन् पूर्व की दूसरी शताब्दी में विद्यमान थे, ऐसा बेसनगर (विदिशा) तथा नगरी (मध्यमिका, चित्तोड़ से सात मील उत्तर में) के शिलालेखों से निश्चित है। बेसनगर के उक्त विशाल स्तंभ पर के शिला-लेख से पाया जाता है कि "राजा ऐंटियाक्लिडिस के समय में तक्षशिला (पंजाब) नगर के रहनेवाले दिय (डिआन) के पुत्र हेलियोदोर ने, जो भागवत (वैष्णव) था, देवताओं के देवता वासुदेव (विष्णु) का यह 'गरुड़ध्वज' बनवाया।" अश्वमेध यज्ञ करनेवाले पाराशरी-पुत्र सर्वतात ने नारायणवट नामक स्थान पर भगवान् संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिए शिला-प्राकार बनवाया, ऐसा ई० सं० पूर्व की दूसरी शताब्दी के नगरी के अपूर्ण शिलालेख से पाया जाता है। बौद्धों में मूर्तिपूजा का प्रचार महायान संप्रदाय के साथ ईस्वी सन् की पहली शताब्दी के आस-पास होना पाया जाता है, परंतु मूर्तिपूजा के उपर्युक्त दोनों उदाहरण ईसा से पूर्व के हैं। इसी तरह ई० सन् की छठी शताब्दी तक की सैकड़ों मूर्तियां मिली हैं, जिनका संबंध हमारे निर्दिष्ट समय से नहीं है। हमारे समय की हज़ारों हिंदू और जैन देवमूर्तियां मिलती हैं और कलकत्ता, लखनऊ, पेशावर, अजमेर, मद्रास, बंबई आदि के अद्भुतालयों तथा स्थान-स्थान के मंदिरों आदि में विद्यमान हैं। ऐसे ही कई एक राजाओं की और धर्माचार्यों की मूर्तियां भी

मिलती हैं। अत्यंत भावपूर्ण और सुंदर कारीगरी को देखकर इनमें से बहुत सी मूर्तियों की अनेक विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है, परंतु यह बात निश्चित है कि ई० सन् की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पाषाण के शिल्प-कार्य में क्रमशः ह्रास होता गया और मूर्तियां तथा खुदाई का काम जैसा सुंदर पहले बनता था, वैसा पिछले समय में न बन सका।

भारतीय शिल्पकला के संबंध में यहां कुछ विद्वानों के कथन उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

मिस्टर हैवेल ने लिखा है—'किसी भी जाति के शिल्प का ठीक-ठीक अनुमान करने में उस जाति ने दूसरों से क्या सीखा है, यह सोचने की हमें आवश्यकता नहीं, किंतु यह सोचने की आवश्यकता है कि उसने अन्य जातियों को क्या सिखलाया है। इस दृष्टि से देखने से भारतीय शिल्पकला का स्थान यूरोप और एशिया की सब शैलियों में सर्वोच्च है। पुरातत्त्वान्वेषण की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि शिल्प की कोई भी शैली न तो सर्वथा स्वदेशी है और न ऐसी है, जिसमें दूसरों से कुछ सीखने की आवश्यकता न हुई हो। ग्रीस और इटली की शिल्प-शैलियां भी इस नियम का अपवाद नहीं हैं। भारत ने जो कुछ बाहर वालों से सीखा है उससे सौ गुना बाहर वालों को सिखलाया है[१]।'

मि० ग्रिफ़िथ का कथन है—'गुफाओं का दीर्घ काल तक निरीक्षण करने पर ऐसा कहीं भी मेरे देखने में नहीं आया कि कारीगर ने पत्थर को आवश्यकता से कुछ भी अधिक काटा हो[२]।'

प्रोफ़ेसर हीरन लिखते हैं—'चतुरस्र स्तंभों पर की खुदाई के काम और स्त्री की आकृतिवाले स्तंभों के बनाने में हिंदू लोग ग्रीस और मिश्र वालों से बहुत बढ़े-चढ़े थे[३]।' इसी तरह हैवल ने लिखा है—'भारतीय शिल्प की

---

[१] हैवल, 'इंडियन स्कल्प्चर एंड पेंटिंग', पृ० १६९

[२] 'दी पेंटिंग्स इन दी बुद्धिस्ट केव टेंपल्स ऑफ़ अजंटा'।

[३] हरविलास सारडा, 'हिंदू सुपीरियौरिटी', पृ० ३४३

मूर्ति में प्रदर्शित जो गहराई तथा आंतरिक भाव दीख पड़ते हैं, वे ग्रीस में नहीं पाए जाते[1]।'

वास्तुविद्या की उन्नति—हमारे समय में वास्तुविद्या का बहुत विकास हो चुका था। इस विषय के कई ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं। अभी कुछ ही समय हुआ राजा भोज का बनाया हुआ 'समरांगणसूत्रधार' नामक एक अत्यंत उत्कृष्ट तथा महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक से जान पड़ता है कि हमारे समय तक आश्चर्यजनक वैज्ञानिक उन्नति हो चुकी थी। इस ग्रंथ में नगर, दुर्ग आदि के लिए उचित भूमि का वर्णन, शहर बसाने, उसके चारों ओर खाई बनाने, राजाओं के भिन्न-भिन्न प्रकार के महल, उद्यान तथा मूर्तियां आदि बनाने का विस्तृत और महत्वपूर्ण वर्णन है, जो हम यहां विस्तार-भय से नहीं करते।

वैज्ञानिक उन्नति—उक्त पुस्तक का ३१ वां अध्याय बहुत महत्वपूर्ण है। उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के बहुत से यंत्रों का वर्णन है। उनमें से हम कुछ का उल्लेख नीचे करते हैं—

यंत्र द्वारा सूर्य की प्रदक्षिणा और ग्रहों की गति बताई जाय। कृत्रिम पुरुष यंत्र द्वारा परस्पर लड़ते, चलते-फिरते और बंसी बजाते थे। स्वयं पक्षियों की-सी आवाज़ करनेवाले लकड़ी के पक्षियों और कंकड़ों तथा कुंडलों के बनाने का भी उसमें उल्लेख है। लकड़ी के ऐसे मनुष्य बनाए जायँ, जो गुप्त सूत्र-द्वारा नृत्य करें, परस्पर लड़ें और चोरों को पीटें। भिन्न-भिन्न प्रकार के सुंदर फ़व्वारे बनाकर धारागृहों में लगाए जायँ। एक ऐसी स्त्री बनाई जाय, जिसके स्तनों, नाभि, आँखों और नखों से जलधाराएँ बहें। यंत्रों से शतघ्नी और उष्ट्रग्रीव आदि दुर्गरक्षक अस्त्र चलाए जायें। कृत्रिम झरने भी बाग़ों में बनाए जायें। आधुनिक 'लिफ़्ट' जैसे यंत्र का भी वर्णन उसमें है, जिसके द्वारा एक मंज़िल से दूसरी मंज़िल में जाया जाता था। दिए की एक ऐसी पुतली बनाई जाय, जो दीपक में तेल घट जाने पर उसमें तेल डाल दे और स्वयं ताल की गति से नाचे। एक ऐसे यांत्रिक हाथी का भी

---

[1] **हैवल, 'इंडियन स्कल्प्चर एंड पेंटिंग', पृ० १४४**

वर्णन है, जो पानी पीता जाय, परंतु यह मालूम न हो कि पानी कहां जाता है। इस प्रकार के कई अद्भुत-अद्भुत यंत्रों का वर्णन उसमें मिलता है, परंतु सबसे अधिक आश्चर्यप्रद और महत्वपूर्ण बात आकाश में चलनेवाले 'विमान' का वर्णन है। उसमें विमान के विषय में लिखा है कि महाविहंग नाम की लकड़ी का विमान बनाया जाय, उसमें रसयंत्र रखा जाय, जिसके नीचे आग से भरा हुआ ज्वलनाधार हो। उसमें बैठा हुआ पुरुष पारे की शक्ति से आकाश में उड़ता है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि ग्यारहवीं सदी में इन यंत्रों का बनाना ज्ञात था, परंतु सर्वसाधारण में इसका प्रचार न था। इतना वर्णन करते हुए इस ग्रंथ का कर्ता लिखता है कि हमें बहुत से अन्य यंत्रों का बनाना भी मालूम है, परंतु उनका बताना फलप्रद नहीं है, इसलिए उनका वर्णन नहीं लिखा। इस ग्रंथ से तत्कालीन वैज्ञानिक और शिल्प-साहित्य पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इस विषय की बहुत-सी पुस्तकों का निर्देश हम वार्ता के प्रसंग में कर चुके हैं।

चित्रकला

गुफाओं के चित्र—भारतवर्ष जैसे उष्णप्रधान देश में कागज़ या कपड़े पर खिंचे हुए चित्र अधिक काल तक नहीं रह सकते, इसीसे ई० स० १२०० तक के ऐसे चित्र यहां नहीं मिलते। कितनी एक पुस्तकों में विषय-सूचक सुंदर चित्र अवश्य मिलते हैं, परंतु वे सब हमारे निर्दिष्ट काल के पीछे के हैं। उक्त काल के रंगीन चित्र केवल पहाड़ों को खोद-खोदकर बनाई हुई सुंदर विशाल गुफाओं की दीवारों पर ही पाए जाते हैं। वे ही हमारे उक्त काल और उससे पूर्व की चित्रकला के बचे-खुचे चिह्न मात्र हैं। ऐसी अबतक चार गुफाओं का पता लगा है, जिनमें चित्रकला की दृष्टि से अजंटा की गुफाएं सब से अधिक महत्व की हैं। ये गुफाएं हैदराबाद राज्य के औरंगाबाद ज़िले के अजंटा गाँव से पश्चिमोत्तर में चार मील दूर स्थित पर्वतश्रेणी में खुदी हुई हैं। इनमें २४ विहार (मठ) और ५ चैत्य (स्तूप वाले विशाल भवन) बने हैं, जिनमें से तेरह में दीवारों, भीतरी छतों, या स्तंभों पर चित्र अंकित किए हैं। चित्र-लेखन से पूर्व चट्टान की भित्ति पर एक प्रकार का

प्लास्टर लगाकर चूने जैसे किसी पदार्थ की घुटाई की गई है, और उस पर चित्र अंकित किए गए हैं। ये सब गुफाएं एक समय की कटी हुई नहीं, किंतु अनुमानतः ईसवी सन् की चौथी शताब्दी से लगाकर सातवीं शताब्दी के आसपास तक समय-समय पर बनी हैं। इनके अंतर्गत भिन्न-भिन्न चित्रों के विषय में भी यही समय समझना चाहिए। कई एक चित्र हमारे व्याख्यान के पूर्ववर्ती काल के होने से उस समय की भारतीय चित्रकला का परिचय देते हैं। अधिकतर चित्र हमारे निर्दिष्ट काल या उससे कुछ ही पूर्ववर्ती समय के हैं। इन चित्रों से उक्त काल की हमारी चित्रकला का परिचय मिलता है। उनमें गौतम बुद्ध की जीवन-घटनाएं, मातृपोषक जातक, विश्वांतर जातक, षड्दांत जातक, रुरु जातक और महाहंस जातक आदि १२ जातकों में वर्णित गौतम बुद्ध की पूर्वजन्म की कथाएं, धार्मिक इतिहास तथा युद्ध के दृश्य और राजकीय तथा लौकिक चित्र अंकित हैं। ऐसे ही बगीचों, जंगलों, रथों, राज-दरबारों, घोड़े, हाथी, हरिण आदि पशुओं, हंस आदि पक्षियों तथा कमल आदि पुष्पों के अनेक चित्रण बने हुए हैं। इन सबको देखने से दर्शक की आँखों के सामने एक ऐसे नाटक का-सा दृश्य उपस्थित हो जाता है, जिसमें जंगलों, शहरों, बगीचों और राजमहलों आदि स्थानों में राजा, वीर पुरुष, तपस्वी, प्रत्येक स्थिति के स्त्री-पुरुष और स्वर्गीय दूत, गंधर्व, अप्सरा और किन्नर आदि पात्र-रूप से हैं। ऐसे सैकड़ों चित्रों में से एक चित्र का परिचय इस अभिप्राय से दिया जाता है कि उनमें से कुछ चित्रों का काल-निर्णय करने में सहायता मिल सके। तबरी नामक ऐतिहासिक अपनी पुस्तक में लिखता है कि ईरान के बादशाह खुसरो (दूसरे) के सन् जुलूस (राज्यवर्ष) छत्तीस (ई० स० ६२६) में उसका एलची राजा पुलकेशी के पास पत्र और तुहफा लेकर गया और पुलकेशी का एलची पत्र और उपहार लेकर उसके पास पहुँचा था। उस समय के दरबार का चित्र एक गुफा की दीवार पर अंकित है जिसमें—

राजा गद्दी बिछे हुए सिंहासन पर लंब-गोलाकृतिक तकिए के सहारे बैठा हुआ है, आसपास चँवर और पंखा करनेवाली स्त्रियां, तथा अन्य परिचारक स्त्री-पुरुष, कोई खड़े और कोई बैठे हुए हैं। राजा के सम्मुख बाईं

ओर तीन पुरुष और एक लड़का सुंदर मोतियों के आभूषण पहिने हुए बैठे हैं (जो राजा के कुँवर, भाई या अमात्यवर्ग में से होने चाहिएं)। राजा अपना दाहिना हाथ उठाकर ईरानी एलची से कुछ कह रहा है। उस (राजा) के सिर पर मुकुट, गले में बड़े-बड़े मोती व माणिक की इकलड़ी कंठी, और उसके नीचे सुंदर जड़ाऊ कंठा है। दोनों हाथों में भुजबंध और कड़े हैं। यज्ञोपवीत के स्थान पर पचलड़ी मोतियों की माला है, जिसमें प्रवर (ग्रंथि) के स्थान पर पाँच बड़े मोती हैं, और कमर में रत्नजटित मेखला है। पोशाक में आधी जाँघ तक कछनी और बाक़ी सारा शरीर नंगा है। दक्षिणी लोग जैसे समेटकर दुपट्टा गले में डालते हैं, उसी प्रकार समेटा हुआ केवल एक दुपट्टा कंधे से हटकर पीछे के तकिए पर पड़ा हुआ है और उसके दोनों समेटे हुए किनारे गद्दी के आगे पड़े हुए दीखते हैं। उसका शरीर प्रचंड, पुष्ट और गौरवर्ण है (चेहरे के स्थान का चूना उखड़ जाने से वह नहीं दीख सकता)। दरबार में जितने हिंदुस्तानी पुरुष हैं उनके शरीर पर आधी जाँघ तक कछनी के सिवा कोई वस्त्र नहीं दीखता और न किसी के दाढ़ी या मूँछ है। कमर से लगाकर आधी जाँघ या कुछ नीचे तक का स्त्रियों के शरीर का हिस्सा वस्त्र से ढका हुआ है, और किसी-किसी के स्तनों पर कपड़े की पट्टी बँधी हुई है, बाक़ी सारा शरीर खुला है। यहां के प्राचीन चित्रादि में स्त्रियों के स्तन बहुधा खुले हुए पाए जाते हैं, या कभी-कभी उन पर पट्टियां बँधी हुई दीख पड़ती हैं। पट्टियां बाँधने का रिवाज प्राचीन है। श्रीमद्भागवत में भी उसका वर्णन मिलता है—

तदंगसंगप्रमुदाकुलेंद्रियाः केशान्दुकूलं कुचपट्टिकां वा।
नांजः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह।[1]

राजा की एक तरफ़ एकटक दृष्टि लगाकर हाथ में ली हुई मोतियों की कई लड़ें या कई लड़वाली कंठी नज़र करता हुआ ईरानी एलची सम्मुख खड़ा है, जिससे राजा कुछ कह रहा है। उसके पीछे एक दूसरा ईरानी हाथ में बोतल-सी कोई चीज़ लिए खड़ा है, जिसके पीछे तीसरा ईरानी तुहफ़े को

---

[1] दशम स्कंध, ३३।१८

चीज़ों से भरी हुई किश्ती धरे हुए है। उसके पीछे पीठ फेरकर खड़ा हुआ चौथा ईरानी बाहर से हाथ में कुछ चीज़ लेकर दरवाज़े में आते हुए एक दूसरे ईरानी की तरफ़ देख रहा है और उसके पास एक ईरानी सिपाही कमर में तलवार लगाए खड़ा है और दरवाज़े के बाहर ईरानियों के साथ के अन्य पुरुष और घोड़े खड़े हैं। ईरानियों और हिंदुस्तानियों की पोशाक में रात-दिन का-सा अंतर है। जब हिंदुस्तानियों का क़रीब-क़रीब सारा शरीर खुला है तो उनका प्रायः सारा ढका हुआ है। उनके सिर पर ऊँची ईरानी टोपी, कमर तक अँगरखा, चुस्त पायजामा और कई एक के पैरों में मोज़े भी हैं और दाढ़ी-मूँछ सबके हैं। ईरानी एलची (जिससे राजा कुछ कह रहा है) के गले में बड़े-बड़े मोतियों की एक लड़ी, पानदार कंठी, कानों में लटकते हुए मोतियों के भूषण और कमर में मोतियों से जड़ी हुई कमरपेटी है। दूसरे किसी ईरानी के शरीर पर ज़ेवर नहीं है। दरबार में सब जगह फ़र्श पर पुष्प बिखरे हुए हैं। राजा के सिंहासन के आगे पीकदानी पड़ी हुई है और चौकियों पर ढक्कन वाले पानदान आदि पात्र रखे हुए हैं[1]। इस चित्र से अनुमान होता है कि यह ई० स० ६२६ के बाद बना होगा।

अजंटा के चित्र चित्रकला में प्रवीण आचार्यों के हाथ से खिंचे हुए हैं। उनमें अनेक प्रकार का अंग-विन्यास, मुख-मुद्रा, भाव-भंगी और अंग-प्रत्यंगों की सुंदरता, नाना प्रकार के केशपाश, वस्त्राभरण, चेहरों के रंग-रूप आदि बहुत उत्तमता से बतलाए गए हैं। इसी तरह पशु, पक्षी, पत्र, पुष्प आदि के चित्र बहुत सुंदर हैं। कई चित्र ऐसे भावपूर्ण हैं कि उनमें चित्रित स्त्री-पुरुषों की मानसिक दशा का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन होता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग और उनके मिश्रण में कमाल किया गया है। चित्रण इतना प्रशस्त और नियमित है कि प्रकृति और सौंदर्य को पूर्ण-रूप से समझनेवाले के सिवा दूसरा उन्हें अंकित नहीं कर सकता। इन सब बातों को देखकर चित्रकला के आधुनिक बड़े-बड़े विद्वान् भी मुग्ध होकर मुक्तकंठ से इनकी उत्कृष्टता की प्रशंसा करते हैं। मिस्टर ग्रिफ़िथ ने मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई एक रानी के

---

[1] **जान ग्रिफ़िथ, 'दी पेंटिंग्ज़ ऑफ़ अजंटा'—प्लेट नं० ५**

चित्र की प्रशंसा करते हुए लिखा है—करुण रस और अपना भाव ठीक-ठीक प्रदर्शित करने में चित्रकला के इतिहास में इससे बढ़कर कोई चित्र नहीं मिल सकता। फ्लौरेंस के चित्रकार चाहे अधिक अच्छा आलेखन कर सकें और वेनिस वाले अच्छा रंग भर सकें परंतु उनमें से एक भी इससे बढ़कर भाव प्रदर्शित नहीं कर सकता है। चित्र का भाव इस प्रकार है—

झुके हुए सिर, अधखुली आँखें और शिथिल अंग-प्रत्यंग के साथ वह रानी मृत्यु शय्या पर बैठी हुई है। उसकी एक दासी हलके हाथ से उसे सहारा दिए हुए खड़ी है, और एक दूसरी चिंतातुर दासी मानो नाड़ी देखाती हो, इस तरह उसका हाथ पकड़े हुए है। उसकी मुखमुद्रा से वह अत्यंत व्यग्र प्रतीत होती है, मानो वह यह सोच रही है कि मेरी इस स्वामिनी का प्राण-पखेरू कितना शीघ्र उड़ने वाला है। एक ओर दासी पंखा लिए हुए खड़ी है और दो पुरुष बाई तरफ़ से उसकी ओर देख रहे हैं, जिनके चेहरों पर गहरी उदासीनता छा रही है। नीचे फ़र्श पर उसके संबंधी बैठे हुए हैं, जो उसके जीवन की आशा छोड़कर शोकाकुल हो रहे हैं। एक अन्य स्त्री हाथ से अपना मुँह ढककर बुरी तरह रो रही है।

इन चित्रों के असाधारण कलाकौशल से आकर्षित होकर कई चित्रकला-मर्मज्ञों ने इनकी नक़लें कीं और इन पर कई पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

अजंटा की गुफाओं में अंकित जातक आदि को देखने से प्रतीत होता है कि उनके निर्माताओं ने अमरावती, साँची और भरहुत के स्तूपों की शिलाओं पर अंकित जातकों तथा गांधार-शैली की तक्षण-कला ('स्कल्प्चर') के नमूनों का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया हो, क्योंकि उनमें तथा इनमें बहुत कुछ साम्य पाया जाता है।

इसी तरह ग्वालियर राज्य के अमझेरा ज़िले में बाघ गाँव के पास की पर्वतीय गुफाओं में भी बहुत से रंगीन चित्र हैं, जो ई० स० की छठी और सातवीं शताब्दी के अनुमान किए जा सकते हैं। वे भी अजंटा के चित्रों के समान सुंदर, भावपूर्ण और चित्रकला के उत्तम नमूने हैं। इन चित्रों की भी नक़लें हो गई हैं और उन पर एक ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। लंदन के 'टाइम्स' पत्र ने उक्त चित्रों की समालोचना करते हुए लिखा है कि यूरोप के

चित्र उत्तमता में इनकी समानता नहीं कर सकते। 'डेली टैलीग्राफ' पत्र का कथन है कि कला की दृष्टि से ये चित्र इतने उत्कृष्ट हैं कि इनकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। इनका रंग भी बहुत उत्तम है। जीवन और चेष्टा के भाव-प्रदर्शन की दृष्टि से ये चित्र केवल अपूर्व और चित्ताकर्षक संस्कृति को ही नहीं बताते, किंतु वे एक सत्य और विश्वव्यापी प्रभाव के दर्शक हैं।

कुछ समय पूर्व सित्तनवासल में, जो कृष्णा नदी के दक्षिणी किनारे पद्दूकोटा से पश्चिमोत्तर में नौ मील परे है, पहाड़ को काटकर बनाए हुए मंदिर में भी ऐसे कुछ चित्रों का पता लगा है। इन चित्रों को सबसे पहले टी० ए० गोपीनाथ राव ने देखा। ये चित्र पल्लव-शासक महेंद्रवर्मा (प्रथम) के समय (सातवीं शताब्दी के प्रारंभ) में बनाए गए हों ऐसा अनुमान किया जाता है। इस मंदिर की भीतरी छतों, स्तंभों और उनके सिरों पर ये चित्र अंकित है। यहां का मुख्य चित्र बरामदे की प्रायः सारी छत को घेरे हुए है। इस चित्र में कमलों से भरा हुआ एक सरोवर बतलाया गया है। पुष्पों के मध्य में मछलियां, हंस, भैंसे, हाथी और हाथ में कमल लिए हुए तीन साधु दीखते हैं। उन साधुओं का अंगविन्यास, उनका रंग और चेहरे की मधुरता वस्तुतः बहुत आनंदप्रद है। स्तंभों पर नाचती हुई स्त्रियों के चित्र भी हैं। इस मंदिर में अर्धनारीश्वर, गंधर्वों तथा अप्सराओं के भी चित्र है। अर्धनारीश्वर जटामुकुट और कुंडल पहने हुए हैं। उनकी आँखों से दिव्य महत्ता की गहरी सूचना प्रकट होती है। इन चित्रों में से कुछ का रंग फीका पड़ गया है, तो भी चित्रों की उत्तमत्ता का परिचय भली-भाँति मिल जाता है। इन चित्रों में से कुछ प्रकाशित भी हो चुके हैं।

मध्यप्रदेश की सरगुजा रियासत में लक्ष्मणपुर गाँव से १२ मील पश्चिम में रामगढ़ पहाड़ पर खुदी हुई 'जोगीमारा' गुफा की छत में भी कुछ रंगीन चित्र बने हुए हैं, जो हमारे निर्दिष्ट काल के प्रारंभ के आसपास के माने जाते हैं।

इन चारों स्थानों में जो भारतीय प्राचीन चित्र मिले हैं वे ही हमारे निर्दिष्ट काल तथा उससे कुछ पूर्व के हमारी चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट बचे-खुचे नमूने हैं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे उष्णतावाले स्थानों में बारह-

चित्र की प्रशंसा करते हुए लिखा है—करुण रस और अपना भाव ठीक-ठीक प्रदर्शित करने में चित्रकला के इतिहास में इससे बढ़कर कोई चित्र नहीं मिल सकता। फ्लौरेंस के चित्रकार चाहे अधिक अच्छा आलेखन कर सकें और वेनिस वाले अच्छा रंग भर सकें परंतु उनमें से एक भी इससे बढ़कर भाव प्रदर्शित नहीं कर सकता है। चित्र का भाव इस प्रकार है—

झुके हुए सिर, अधखुली आँखें और शिथिल अंग-प्रत्यंग के साथ वह रानी मृत्यु शय्या पर बैठी हुई है। उसकी एक दासी हलके हाथ से उसे सहारा दिए हुए खड़ी है, और एक दूसरी चितातुर दासी मानो नाड़ी देखाती हो, इस तरह उसका हाथ पकड़े हुए है। उसकी मुखमुद्रा से वह अत्यंत व्यग्र प्रतीत होती है, मानो वह यह सोच रही है कि मेरी इस स्वामिनी का प्राण-पखेरू कितना शीघ्र उड़ने वाला है। एक ओर दासी पंखा लिए हुए खड़ी है और दो पुरुष बाईं तरफ़ से उसकी ओर देख रहे हैं, जिनके चेहरों पर गहरी उदासीनता छा रही है। नीचे फ़र्श पर उसके संबंधी बैठे हुए हैं, जो उसके जीवन की आशा छोड़कर शोकाकुल हो रहे हैं। एक अन्य स्त्री हाथ से अपना मुँह ढककर बुरी तरह रो रही है।

इन चित्रों के असाधारण कलाकौशल से आकर्षित होकर कई चित्रकला-मर्मज्ञों ने इनकी नक़लें कीं और इन पर कई पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

अजंटा की गुफाओं में अंकित जातक आदि को देखने से प्रतीत होता है कि उनके निर्माताओं ने अमरावती, साँची और भरहुत के स्तूपों को शिलाओं पर अंकित जातकों तथा गांधार-शैली की तक्षण-कला ('स्कल्प्चर') के नमूनों का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया हो, क्योंकि उनमें तथा इनमें बहुत कुछ साम्य पाया जाता है।

इसी तरह ग्वालियर राज्य के अमझेरा ज़िले में बाघ गाँव के पास की पर्वतीय गुफाओं में भी बहुत से रंगीन चित्र हैं, जो ई० स० की छठी और सातवीं शताब्दी के अनुमान किए जा सकते हैं। वे भी अजंटा के चित्रों के समान सुंदर, भावपूर्ण और चित्रकला के उत्तम नमूने हैं। इन चित्रों की भी नक़लें हो गई हैं और उन पर एक ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। लंदन के 'टाइम्स' पत्र ने उक्त चित्रों की समालोचना करते हुए लिखा है कि यूरोप के

चित्र उत्तमता में इनकी समानता नहीं कर सकते । 'डेली टैलीग्राफ' पत्र का कथन है कि कला की दृष्टि से ये चित्र इतने उत्कृष्ट हैं कि इनकी प्रशंसा नहीं की जा सकती । इनका रंग भी बहुत उत्तम है । जीवन और चेष्टा के भाव-प्रदर्शन की दृष्टि से ये चित्र केवल अपूर्व और चित्ताकर्षक संस्कृति को ही नहीं बताते, किंतु वे एक सत्य और विश्वव्यापी प्रभाव के दर्शक हैं ।

कुछ समय पूर्व सित्तनवासल में, जो कृष्णा नदी के दक्षिणी किनारे पद्दूकोटा से पश्चिमोत्तर में नौ मील परे है, पहाड़ को काटकर बनाए हुए मंदिर में भी ऐसे कुछ चित्रों का पता लगा है । इन चित्रों को सबसे पहले टी० ए० गोपीनाथ राव ने देखा । ये चित्र पल्लव-शासक महेंद्रवर्मा (प्रथम) के समय (सातवीं शताब्दी के प्रारंभ) में बनाए गए हों ऐसा अनुमान किया जाता है । इस मंदिर की भीतरी छतों, स्तंभों और उनके सिरों पर ये चित्र अंकित हैं । यहां का मुख्य चित्र बरामदे की प्रायः सारी छत को घेरे हुए है । इस चित्र में कमलों से भरा हुआ एक सरोवर बतलाया गया है । पुष्पों के मध्य में मछलियां, हंस, भैंसे, हाथी और हाथ में कमल लिए हुए तीन साधु दीखते हैं । उन साधुओं का अंगविन्यास, उनका रंग और चेहरे की मधुरता वस्तुतः बहुत आनंदप्रद है । स्तंभों पर नाचती हुई स्त्रियों के चित्र भी हैं । इस मंदिर में अर्धनारीश्वर, गंधर्वों तथा अप्सराओं के भी चित्र हैं । अर्धनारीश्वर जटामुकुट और कुंडल पहने हुए हैं । उनकी आँखों से दिव्य महत्ता की गहरी सूचना प्रकट होती है । इन चित्रों में से कुछ का रंग फीका पड़ गया है, तो भी चित्रों की उत्तमत्ता का परिचय भली-भाँति मिल जाता है । इन चित्रों में से कुछ प्रकाशित भी हो चुके हैं ।

मध्यप्रदेश की सरगुजा रियासत में लक्ष्मणपुर गाँव से १२ मील पश्चिम में रामगढ़ पहाड़ पर खुदी हुई 'जोगीमारा' गुफा की छत में भी कुछ रंगीन चित्र बने हुए हैं, जो हमारे निर्दिष्ट काल के प्रारंभ के आसपास के माने जाते हैं ।

इन चारों स्थानों में जो भारतीय प्राचीन चित्र मिले हैं वे ही हमारे निर्दिष्ट काल तथा उससे कुछ पूर्व के हमारी चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट बचे-खुचे नमूने हैं । आश्चर्य तो यह है कि ऐसे उष्णतावाले स्थानों में बारह-

तेरह सौ वर्ष तक के चित्र बिगड़ते-बिगड़ते भी किसी प्रकार अच्छी स्थिति में रह गए और उन्हीं से भारत की प्राचीन समुन्नत चित्रकला की उत्तमता का अनुमान होता है ।

भारतीय शिल्पकला का अन्य देशों में प्रभाव—इस समय के पीछे अनुमान ६०० वर्षों तक भारतीय चित्रकला का इतिहास अंधकार में ही है, क्योंकि उस समय के कोई चित्र नहीं मिले, परंतु चीनी तुर्किस्तान के खोतान प्रदेश, दनदनयूलिक और मीरन स्थानों से दीवारों, काष्ठफलकों या रेशम आदि पर अंकित जो चित्र मिले हैं । वे चौथी से ग्यारहवीं शताब्दी तक के आसपास के अनुमान किए जा सकते हैं । उनमें भारतीय चित्रकला का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है । जैसे लंका में भारतीय सभ्यता फैली हुई थी, वैसे मध्यएशिया में तुर्किस्तान या उससे परे तक भारतीय सभ्यता का विस्तार था और भिन्न-भिन्न भारतीय शास्त्रों तथा कलाओं आदि का वहां प्रचार हो गया था ।

भारतीय चित्रकला की विशेषता—भारतीय चित्रकला यूरोपीय चित्रकला की तरह रूप-प्रधान न होकर भावप्रधान है । हमारे चित्रकार बाहरी अंग-प्रत्यंगों की सूक्ष्मता तथा सुंदरता पर उतना विशेष ध्यान नहीं देते, जितना यूरोप वाले । वे उसके आंतरिक और मानसिक भावों को प्रदर्शित करने में ही अपना प्रयत्न सफल समझते हैं । व्यक्त के भीतर जो अव्यक्त की छाया छिपी हुई है, उसको प्रकाशित करना ही भारतीयों का मुख्यतम उद्देश्य रहा है । वस्तु के रूप से उन्हें उतनी परवाह नहीं, जितनी मूलभाव को स्पष्ट करने से थी ।

मिस्टर ई० बी० हैवेल का कथन है—'यूरोपीय चित्र मानो पंख कटे, हुए हों, ऐसे प्रतीत होते है, क्योंकि वे लोग केवल पार्थिव सौंदर्य का चित्रण जानते थे । भारतीय चित्रकला अंतरिक्ष में ऊँचे उठे हुए दृश्यों को नीचे पृथ्वी पर लाने के भाव और सौंदर्य को प्रकट करती है[1] ।'

बंगाल की आधुनिक चित्र-शैली अजंटा की प्राचीन शैली की तरफ़ झुकी हुई है ।

---

[1] **'इंडियन स्कल्पचर्स ऐंड पेंटिंग्स', पृ० ८८**

यों तो प्राचीन भारत सब प्रकार की विद्या एवं कला-कौशल में बड़ी उन्नति कर चुका था, परंतु संगीत-कला में तो इस देश ने बहुत ही अधिक उन्नति कर ली थी। अर्वाचीन वैज्ञानिकों ने जिन-जिन बातों से संगीत का महत्व माना है, वे सब वैदिक काल में भी यहां विद्यमान थीं। उस समय कई प्रकार की वीणा, झांझ, बंसी, मृदंग आदि वाद्य काम में आते थे। वैदिक साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रकार की वीणाओं के नाम 'वीणा', 'कांडवीणा[१]' और 'कर्करी[२]' आदि मिलते हैं। 'झांझ को आघाटि[३]' या 'आघाट[४]' कहते थे और इस वाद्य का प्रयोग नृत्य के समय होता था। बंसी के नाम 'तूणव[५]' और 'नाडी'[६] मिलते हैं। मृदंग आदि चमड़े से मढ़े हुए वाद्य 'आडंबर[७]', 'दुदुभि[८]', 'भूमिदुंदुभि[९]' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध थे। आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि भारतीय मृदंग आदि बाजे तक वैज्ञानिक सिद्धांत पर बनाए जाते थे। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि तार के वाद्यों का प्रचार उसी जाति में होना संभव है, जिसने संगीत में पूर्ण उन्नति कर ली हो। तंतुवाद्यों में वीणा सर्वोत्तम मानी गई है, और वैदिक काल में यहां उसका बहुत प्रचार होना यही बतलाता है कि संगीत-कला ने उस समय भी बड़ी उन्नति कर ली थी, जब कि संसार की बहुत सी जातियां सभ्यता के निकट भी नहीं पहुँचने पाई थीं।

---

[१] काठकसंहिता, ३४।५

[२] ऋग्वेद, २ । ४३ । ३ ॥ अथर्ववेद, ४ । ३७ । ४

[३] वही, १० । १४६ । २

[४] अथर्ववेद, ४ । ३७ । ४

[५] तैत्तिरीयसंहिता, ६ । १ । ४ । १

[६] ऋग्वेद, १० । १३५ । ७

[७] वाजसनेयीसंहिता, ३० । १९

[८] ऋग्वेद, १ । २८ । ५

[९] तैत्तिरीयसंहिता, ७ । ५ । ९ । ३

प्राचीन काल में भारत के राजा आदि संगीत के ज्ञान को बड़े गौरव का विषय समझते थे और अपनी संतान को इस कला की शिक्षा दिलाते थे। पांडवों के बारह वर्ष के वनवास के पीछे एक वर्ष के अज्ञातवास के समय अर्जुन ने अपने को वृहन्नला नामक नपुंसक प्रकट कर राजा विराट की पुत्री उत्तरा को संगीत सिखाने की सेवा स्वीकार की थी। पांडुवंशी जनमेजय का प्रपौत्र उदयन, जिसको वत्सराज भी कहते थे, यौगंधरायण आदि मंत्रियों पर राज्यभार डालकर वीणा बजाने और मृगयादि विनोद में सदा लगा रहता था। वह अपनी वीणा के मधुर स्वर से हाथियों को वश कर वनों में से उन्हें पकड़ लाया करता था। एक समय अपने शत्रु उज्जैन के राजा चंडमहासेन (प्रद्योत) के हाथ में यह क़ैद हुआ और संगीत-कला में निपुण होने के कारण चंडमहासेन ने उसे अपनी पुत्री वासवदत्ता को संगीत सिखाने के लिए नियुक्त किया। इन दो ही उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल के राजा संगीत-प्रिय होते थे और संगीतवेत्ताओं को सादर अपने यहां रख कर इस कला की उन्नति कराते थे। राजा कनिष्क के दरबार का प्रसिद्ध कवि अश्वघोष धुरंधर गायनाचार्य भी था। गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त प्रयाग के स्तंभ-लेख में अपने को संगीत में तुंबुरु और नारद से बढ़कर बतलाता है और उसके एक प्रकार के सिक्कों पर वाद्य बजाते हुए उसी राजा की मूर्ति बनी है। विक्रम संवत् की पाँचवीं शताब्दी में ईरान के बादशाह बहराम गोर का हिंदुस्तान से १२,००० गवैयों का नौकरी के लिए ईरान भेजना वहां के इतिहास में लिखा है[१]।

हमारे निर्दिष्ट काल में भी संगीत की पर्याप्त उन्नति थी। नृत्य का सामाजिक जीवन में पर्याप्त भाग था। स्त्रियों को तो नृत्य की विशेष शिक्षा दी जाती थी। राज्यश्री को संगीत सिखाने के लिए विशेष प्रबंध किया गया था, जैसा कि 'हर्षचरित' से पाया जाता है। स्वयं हर्ष की 'रत्नावली' में रानी के द्वारा प्रियदर्शिका को संगीत के तीनों अंगों के सिखाने के प्रबंध का उल्लेख है। ऐसे ही हर्ष के समय में नाटयशाला (प्रेक्षागृह) तथा संगीत-

---

[१] 'राजपूताने का इतिहास', जिल्द १, पृ० २९-३०

भवन होने का भी उल्लेख मिलता है। राजाओं के दरबार में नाच, गान आदि होता था। बाण ने हर्ष के दरबार में बंदी (स्तुतिगायक), मार्दंगिक (मृदंग बजानेवाला), सैरंध्री, लासक (नाचनेवाला), शैलालि (नट) और नर्तकी आदि का वर्णन किया है। भक्तिमार्ग के साथ संगीत-कला की भी विशेष उन्नति हुई। संगीत-विषयक ग्रंथों और आचार्यों का परिचय वाङ्मय के प्रकरण में दिया जा चुका है।

कई बातों में यूरोपीय संगीत भारतीय संगीत से मिलता-जुलता है, जिसके कारण की विवेचना करते हुए सर विलियम हंटर ने लिखा है—'संगीत-लिपि ('नोटेशन') भारत से ईरान में, फिर अरब में और वहां से गाइडो डी' अरेज़ो के द्वारा ई० स० की ग्यारहवीं शताब्दी में यूरोप में पहुँची[1]।' प्रोफ़ेसर वेबर का भी यही मत है। ऐनी विल्सन लिखती हैं—'हिंदुओं को इस बात का अभिमान करना चाहिए कि उनकी संगीत-लिपि सब से प्राचीन है[2]।'

---

[1] विलियम हंटर, 'इंडियन गैज़ेटियर', इंडिया, पृ० ९२३

[2] 'शार्ट अकाउंट ऑफ़ दी हिंदू सिस्टम्स ऑफ़ म्यूज़िक', पृ० ५
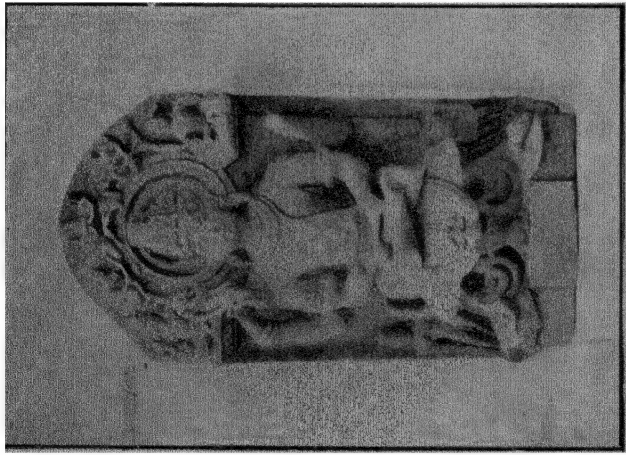
१. हिंदुओं का बुद्धावतार
[राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेर]
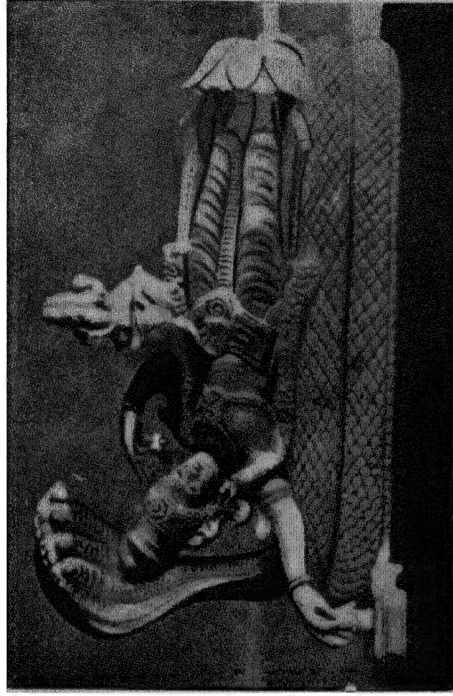
२ शेषशायी विष्णु (नारायण)
[त्रिवेंद्रम्]
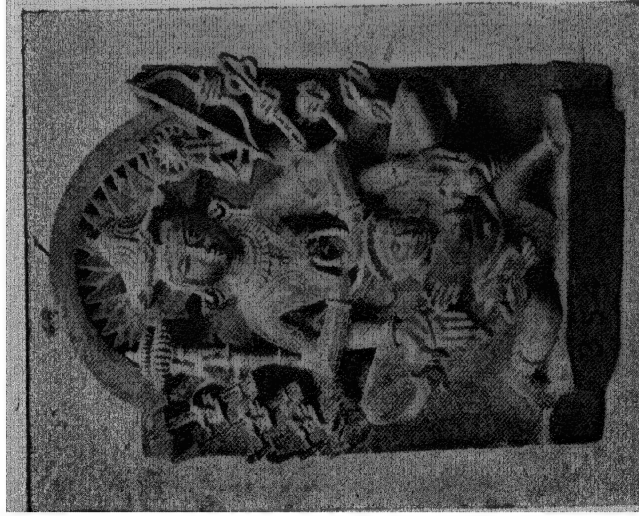
३. विष्णु की चौदह हाथ वाली मूर्ति

४. विष्णु की त्रिमूर्ति

[राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेर]

५. शिव की त्रिमूर्ति
[धारापुरी]
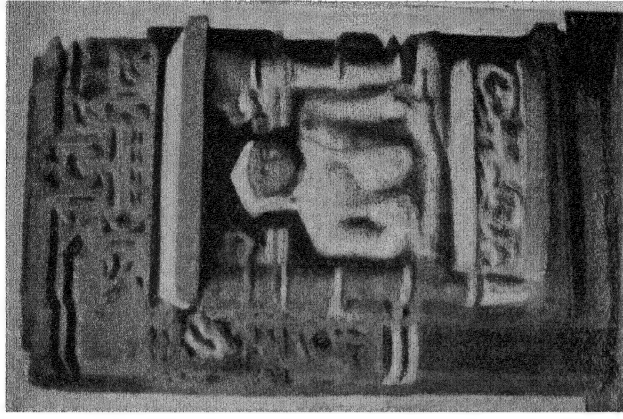
६. लकुलीश (लकुटीश) की मूर्ति
[राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेर]
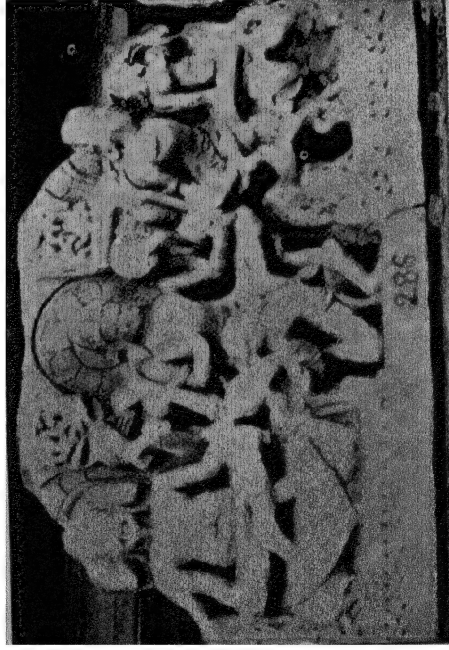
७. ब्रह्मा, विष्णु और शिव की मूर्ति

८. लक्ष्मीनारायण की मूर्ति

[राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेर]

९. अर्द्धनारीश्वर की मर्ति

[मदुरा]
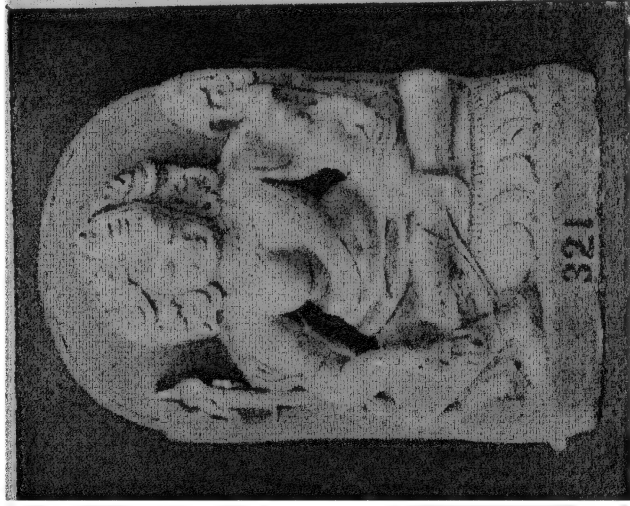
१०. ब्रह्माणी (मातृका) की मूर्ति
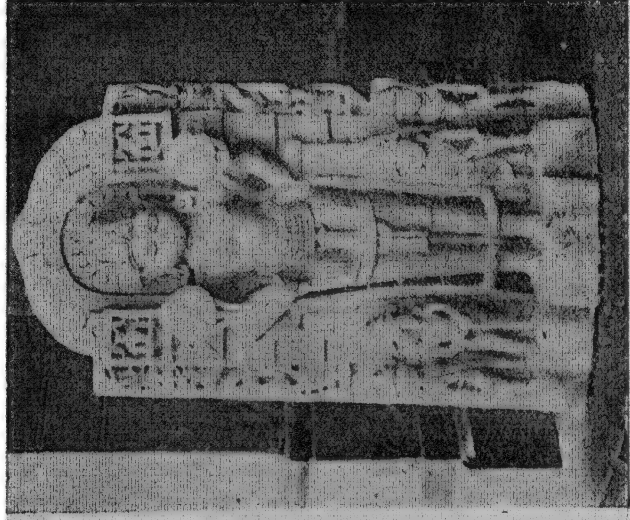
११. सूर्य की मूर्ति

[राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेर]

१२. नवग्रहों में से शुक्र, शनैश्चर, राहु और केतु की मूर्तियां
[राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेर]

१३. यम की मूर्ति
[राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेर]
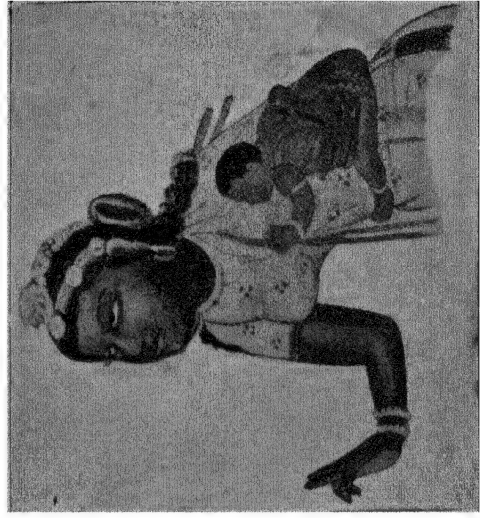
१४. छींट की अँगिया पहनी हुई स्त्री का चित्र
[अजंता की गुफा]

१७. शिव का तांडव नृत्य
[मद्रास म्यूज़ियम]
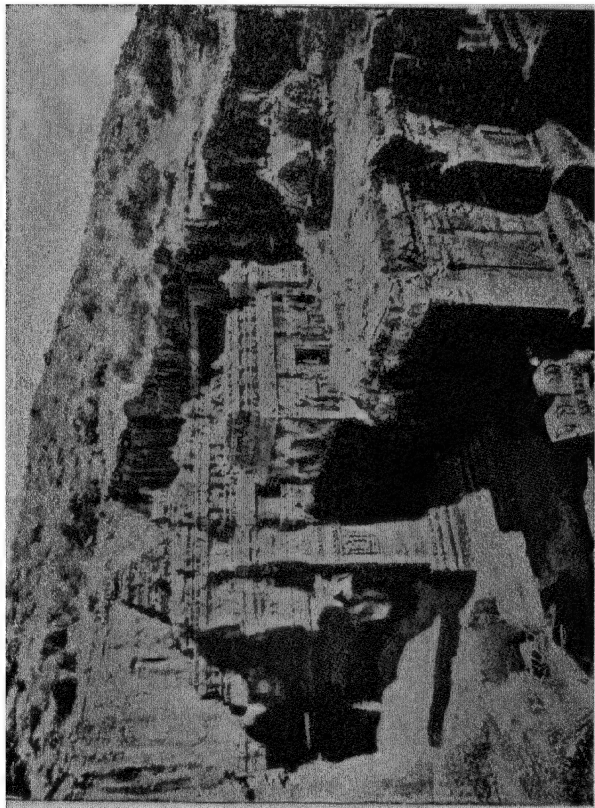
१८. पर्वतीय कैलास-मंदिर

[इलोरा]
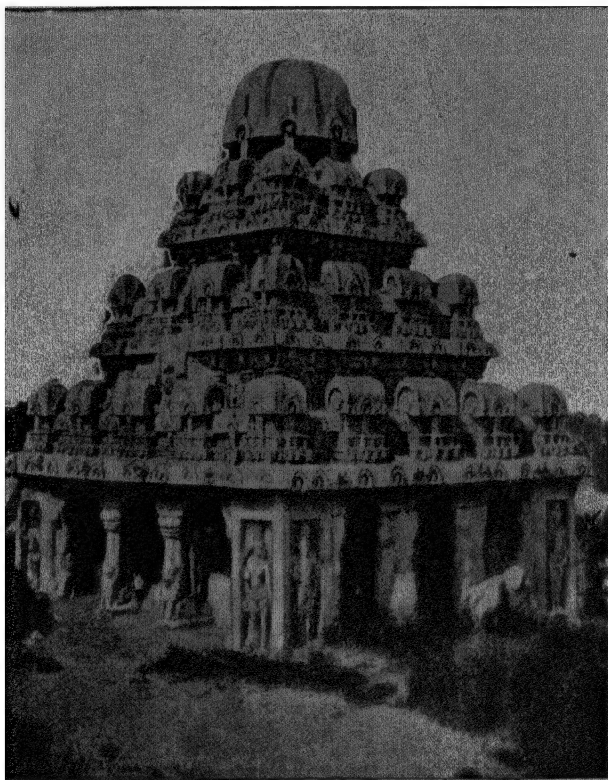
१९. द्रविड शैली के मंदिर का धर्मराज-पथ

[मामल्लपुरम्]
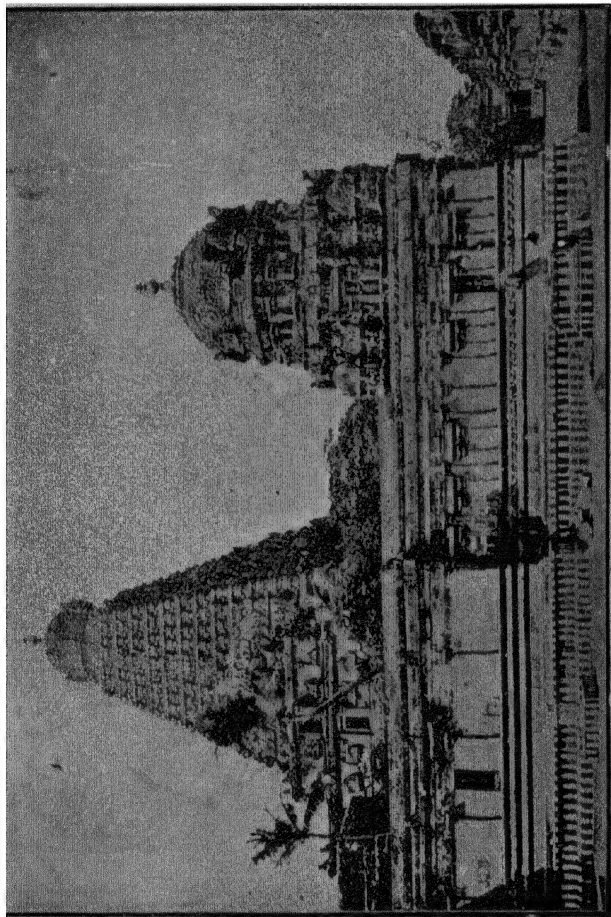
२०. द्रविड़ शैली का हिंदू मंदिर
[तंजोर]

२१. होयसलेश्वर के मंदिर का बाहरी पार्श्व

[हलेबिड]
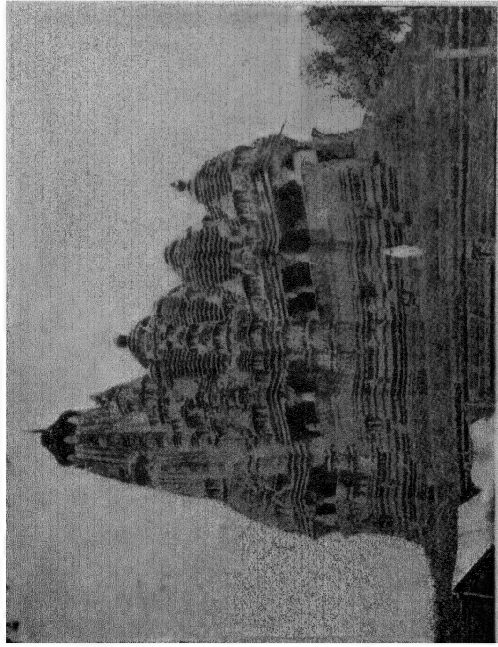
२२. आर्य शैली का हिंदू मंदिर
[खजराहो].
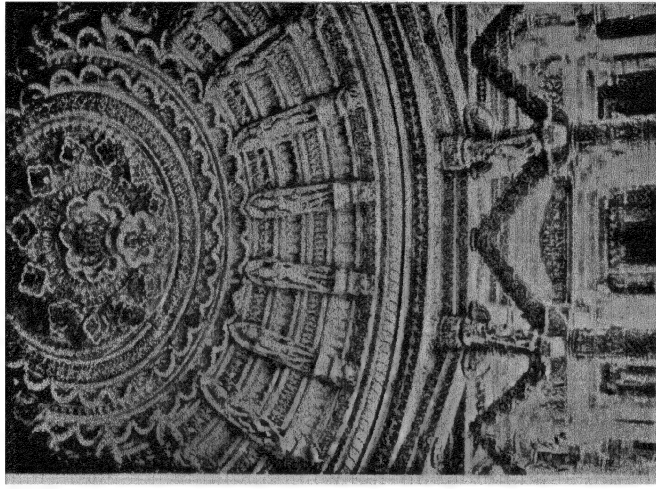
२३. आबू के जैन मंदिर का गुंबज और द्वार

२४. बडनगर (गुजरात) के मंदिर का तोरण